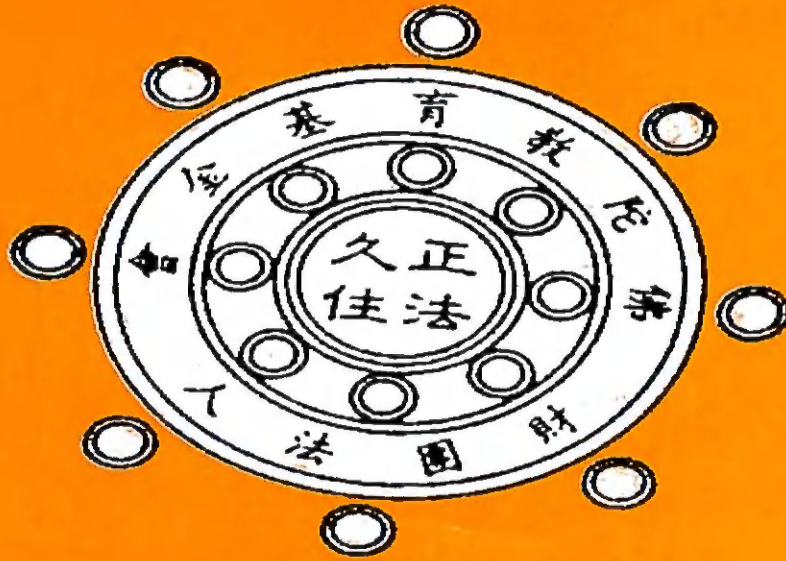


बौद्ध सुभाषित



सूर्यप्रकाश व्यास

बौ
द्ध
सु
भा
षि
त



सू
र्य
प्र
का
श
व्या
स

बौद्ध सुभाषितों के संग्रह और अनुवाद का यह प्रयास ऐतिहासिक, अनूठा और प्रथम है। बौद्ध विचारधारा और जीवनदृष्टि का परिचय पाने का, सुभाषितों के अतिरिक्त, सरलतम माध्यम और कोई नहीं हो सकता।

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी-स्मृति-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित इस पुस्तक में पालि, मिश्र संस्कृत और संस्कृत भाषा के नौ प्रधान ग्रन्थों से १५२४ सुभाषित संग्रहीत हैं जिन्हें ७७ विषयों में, ग्रन्थों के यथासम्भव ऐतिहासिक काल-क्रम से, वर्गीकृत किया गया है।

सुभाषित जीवन और अनुभव के नवनीत हैं, मतविशेष की दृष्टि के दर्पण हैं, समाज के विचार व दृष्टि के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं तथा जीवन की प्रगति के सूत्र हैं। वे अतीत से छनकर आते हैं। बौद्ध आचार्य मानते हैं कि सुभाषित ज्ञान के सार हैं, अमूल्य रत्न हैं, सच्चे मित्र हैं, यश और धन के भण्डार हैं तथा मोह का विनाश करने वाले शस्त्र हैं। ये प्रज्ञा की ऐसी पावनी गङ्गा है जिसमें अज्ञान और क्लेश के पाप प्रक्षालित हो जाते हैं और चित्त शुद्ध व सात्विक होकर लोककल्याणार्थ तत्पर हो जाता है।

बौद्ध सुभाषितों का क्षेत्र विशाल है। प्रत्येक सुभाषित की पृष्ठभूमि में बौद्ध जीवन-दृष्टि विद्यमान है। इनमें प्रतिपादित कुछ विचार वैदिक व पौराणिक ग्रन्थों से स्पष्ट साम्य रखते हैं और कुछ स्पष्ट वैषम्य। यही इनकी विलक्षणता और मौलिकता भी है। इन सुभाषितों के माध्यम से बौद्ध आचार्यों की तर्कप्रियता और लोकजीवन की प्राथमिक सुख-शान्ति के प्रति दृढ़ निष्ठा प्रखररूप में प्रकट होती है।



आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मृति ग्रन्थमाला- अष्टम पुष्प

बौद्ध सुभाषित

संग्रह एवं अनुवाद

डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास

रीडर

जैन-बौद्ध दर्शन विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

प्रकाशक

आर्य भाषा संस्थान

वाराणसी

बौद्ध सुभाषित

संस्करण प्रथम, 2003

प्रकाशक

आर्य भाषा संस्थान,

बी २/१४३ ए, भदौनी

वाराणसी- २२१ ००१

ISBN : 01 - 87978 - 10 - 4



इस ग्रन्थ के सर्वाधिकार
संग्रहकर्ता एवं अनुवादक के अधीन हैं।

मूल्य : 250.00 रुपये

कम्पोजिंग :

आयुशी कम्प्यूटर्स, वाराणसी

मुद्रक :

महावीर प्रेस, वाराणसी

पुरोवाक्

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मृति ग्रन्थमाला का यह अष्टम पुष्प पाठकों को सहर्ष समर्पित है। सुभाषितों के इस संग्रह में जिन लेखकों और व्याख्याकारों के ग्रन्थों को आधार बनाया गया है उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन मेरा प्रथम कर्तव्य है। सुभाषितों के संग्रह, अनुवाद, विषय-क्रम एवं क्रमाङ्क के क्लिष्ट कार्य में जिन सुधी, निष्ठवान् तथा श्रमशील शोधच्छात्राओं ने स्रोत्साह सहयोग किया है वे हैं डॉ. विनीता पाण्डेय, अनामिका सिंह और शालिनी अग्रवाल। प्रकाशन-काल को विस्तार देने और फिर पूर्णता तक भी पहुँचाने में इनका अनिवर्चनीय योगदान रहा- एतदर्थ इनके सुरभद्र व सार्थक भावी जीवन के प्रति शुभकामनाएँ।

आधुनिक संस्कृत और संस्कृति-क्षेत्र के महर्षि आचार्य पं. वासुदेव द्विवेदी, सार्वभौम संस्कृत प्रचार संस्थान, वाराणसी के प्रति अपने हार्दिक श्रद्धा-सुमन समर्पित करना मेरा नैतिक और सुरभद्र कर्तव्य है जिन्होंने विगत वर्षों में अनेकशः इस कार्य की पूर्णता के प्रति जिज्ञासा प्रकट करते हुए मेरा उत्साह-वर्धन किया है।

आर्य भाषा संस्थान के प्रधान, बन्धुवर श्री लेस्लर्क द्विवेदी का आभारी हूँ जिन्होंने संग्रह को प्रकाशनार्थ स्वीकार किया।

विश्वास है कि यह संग्रह एक ओर सामान्य जिज्ञासुओं के लिए बौद्ध मत का संक्षिप्त विवरण (परिचय) प्रस्तुत करेगा तो दूसरी ओर लेख-दृष्टि से बौद्ध विचारधारा की उपयोगिता और प्रासंगिकता भी सिद्ध करेगा। अनुसन्धाताओं के लिए सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में इसकी उपयोगिता भी है। साथ ही विभिन्न विचारधाराओं से बौद्ध जीवन-दर्शन की तुलना करने वालों के लिए इसका संक्षिप्त एवं सूत्रात्मक स्वरूप दिशानिर्धारण में सहायक होगा- ऐसी आशा है। इति शम्।

अनुक्रमणिका

❖	पुरोवाक्	पृष्ठ I
❖	प्रस्तावना	V
❖	सुभाषित : महत्त्व और प्रभाव	VI
❖	बौद्ध सुभाषित	VII
❖	प्रस्तुत संग्रह	VIII
❖	प्रतिपाद्य विषय	
	— सम्यक् दृष्टि	XIV
	— अस्थैर्य	XV
	— काल	XV
	— जन्म	XV
	— यौवन	XVI
	— जरा	XVI
	— मृत्यु	XVI
	— कर्मफल	XVI
	— निर्वाण	XVII
	— लोक-स्वभाव	XVII
	— सद्धर्म और नीति	XVIII
	— गृहस्थ	XX
	— नारी	XX
	— श्रम-शौर्य	XXIII
	— मंगल कामना	XXIII
❖	संकेत सूची	XXVIII

सुभाषित

	विषय	क्रम-संख्या	
१.	अज्ञान	१-२६	१
२.	अप्रमाद-प्रमाद	३०-३४	५
३.	अवनतिकारण	३५-४१	६
४.	अस्थैर्य	४२-६८	७
५.	अहंकार	६९-७३	१०
६.	आचार	७४-१५०	११
७.	आडम्बर	१५१-१५७	२२
८.	आमगन्ध	१५८-१६३	२४

६.	आरोग्य	१६४-१७४	२५
१०.	आर्य	१७५-१७८	२७
११.	आसक्ति	१७९-२८३	२७
१२.	आहार	२८४-२९६	४२
१३.	ईश्वर	३००-३१०	४४
१४.	उत्तम मङ्गल	३११-३१८	४६
१५.	एकाकी	३१९-३२७	४७
१६.	करुणा	३२८-३४८	४९
१७.	कर्मफल	३४९-४०७	५२
१८.	काय	४०८-४१६	६२
१९.	कार्यकारणभाव	४१७-४२६	६३
२०.	काल	४२७-४३७	६५
२१.	क्रोध	४३८-४५६	६६
२२.	क्षमा	४५७-४७१	६९
२३.	गृहस्थ	४७२-४९३	७२
२४.	चित्त	४९४-५०६	७६
२५.	जन्म-जरा	५०७-५१८	७८
२६.	ज्ञानी	५१९-५६२	७९
२७.	तप	५६३-५८७	८६
२८.	तृष्णा	५८८-६०१	८९
२९.	दान	६०२-६६४	९१
३०.	दुःख-सुख	६६५-७३५	१०१
३१.	दृष्टि	७३६-७५१	१११
३२.	द्वेष	७५२-७५५	११३
३३.	धन	७५६-७७१	११४
३४.	धर्म	७७२-८३९	११६
३५.	धैर्य	८४०-८४९	१२५
३६.	नारी	८५०-८७१	१२७
३७.	निर्वाण	८७२-८९६	१३०
३८.	निर्वाणोपाय	८९७-९७७	१३३
३९.	नीति	९७८-९९९	१४५
४०.	पाप-पुण्य	१०००-१०३२	१४८
४१.	बुद्ध	१०३३-१०३६	१५३
४२.	ब्राह्मण	१०३७-१०५३	१५३

४३.	भय	१०५४-१०५७	१५५
४४.	भाषण	१०५८-१०७२	१५६
४५.	भिक्षु	१०७३-१०८०	१५८
४६.	मङ्गलकामना	१०८१-१०८४	१५९
४७.	मद्य	१०८५-११०१	१६०
४८.	मनुष्यता	११०२-११०६	१६३
४९.	मानदण्ड	११०७-११०८	१६४
५०.	मित्रता-संगति	११०९-११४४	१६४
५१.	मुनि	११४५-११६६	१६६
५२.	मृत्यु	११६७-१२२४	१७३
५३.	यौवन	१२२५-१२३०	१८१
५४.	राजधर्म	१२३१-१२५७	१८२
५५.	लज्जा	१२५८-१२६०	१८७
५६.	लोक	१२६१-१२८५	१८७
५७.	लोभ	१२८६-१२८८	१९१
५८.	विडम्बना	१२८९-१२९५	१९१
५९.	वृषल	१२९६-१३१५	१९२
६०.	शान्ति	१३१६-१३२२	१९५
६१.	शुद्धि	१३२३-१३२५	१९६
६२.	श्रद्धा	१३२६-१३३१	१९७
६३.	श्रमण	१३३२-१३३६	१९८
६४.	श्रम-शौर्य	१३३७-१३५९	१९८
६५.	संयोग-वियोग	१३६०-१३६६	२०१
६६.	संस्कार	१३७०-१३७७	२०३
६७.	सत्पुरुष	१३७८-१३९५	२०४
६८.	सत्य	१३९६-१४०७	२०६
६९.	सद्गुण	१४०८-१४४७	२०८
७०.	सन्तोष	१४४८-१४५७	२१४
७१.	समाधि-योग	१४५८-१४६६	२१६
७२.	सहनशीलता	१४७०-१४७६	२१७
७३.	सुभाषित	१४८०-१४९०	२१८
७४.	स्नेह	१४९१-१४९६	२२०
७५.	स्मृति	१५००-१५०५	२२१
७६.	स्वता-परता	१५०६-१५१५	२२२
७७.	हिंसा	१५१६-१५२४	२२४

प्रस्तावना

बौद्धमत

बौद्ध मत भारतीय साहित्य, संस्कृति और जीवन-शैली का अभिन्न अंग है। इसने अपने व्यापक, उदार और शान्त स्वरूप के कारण विश्व-संस्कृति में भी अपना सम्मानप्रद स्थान बना लिया है। हिंसा, कामासक्ति, भोगवाद, भौतिकता, असहिष्णुता, तनाव, युद्ध, अशान्ति आदि के बढ़ते हुए बाह्य और आन्तरिक प्रदूषण के इस दौर में अहिंसा, संयम, त्याग, अध्यात्म, करुणा, सह-अस्तित्व, शान्ति आदि के मूल्यों को प्रतिष्ठित करने वाले इस मत की प्रासंगिकता निर्विवाद है। मानव के अस्तित्व की रक्षा, सुख-शान्ति और कल्याण की प्राप्ति में इस मत की महती भूमिका है।

भारतीय दार्शनिक दृष्टि से देखने पर जीवन का पारमार्थिक पुरुषार्थ पूर्ण आनन्द व पूर्ण स्वातन्त्र्य स्थिर होता है। इस लक्ष्य को बौद्ध दृष्टि पूर्ण शान्ति, चित्त की निर्मलता जैसी शब्दावली में प्रकट करती है। निर्वाण, शान्ति, करुणा आदि यहाँ सर्वोच्च मूल्य हैं। प्रचलित स्वरूप में ईश्वर, आत्मा व जगत् की नित्यता पर विश्वास न करने वाली यह विचारधारा व्यावहारिक दृष्टि से उस सद्धर्म की देशना देती है जिसमें समस्त सद्गुणों, सद्विचारों और सत् प्रवृत्तियों का समावेश 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' की नीति से हो जाता है।

बौद्ध मत का साहित्य विशाल और विविध है। प्राचीन बौद्ध साहित्य पालि, मिश्र संस्कृत और संस्कृत भाषाओं में निबद्ध है। विषय की दृष्टि से देखने पर इसके साहित्य में धर्म, दर्शन, तन्त्र, अध्यात्म, कला, पुरातत्त्व, मनोविज्ञान, योग, साधना, शिक्षा, आचार आदि का समावेश है। प्राचीनता के कारण इसके विवरणों में इतिहास एवं भूगोल के तत्त्व स्वाभाविकरूप से समाविष्ट हैं।

बौद्ध मत के अनेक और विविध पक्षों के मन्थन, अध्ययन और अनुसन्धान का क्रम देश-विदेश में बड़ी व्यापकता और गम्भीरता से प्रगति पर है। तथापि अनेक ऐसे अछूते किन्तु आवश्यक कार्य शेष हैं जिनकी ओर अध्येताओं या लेखकों का ध्यान नहीं जा सका है। ऐसे ही कार्यों में एक है बौद्ध सुभाषितों का संग्रह और अध्ययन। अन्य विचारधाराओं के सुभाषितों के संग्रह तो न्यूनाधिकरूप में उपलब्ध हो जाते हैं किन्तु बौद्ध विचारधारा इस अवसर से वञ्चित क्यों और कैसे रही— यह आश्चर्यजनक और खेदप्रद है।

इसी अभाव के कारण जन-समाज में इस मत के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ भी फैलीं। अतः यह अनुभव किया गया कि जीवन के विषय में बौद्ध साहित्यकारों की सोच को प्रतिनिधिरूप में और संक्षेप में ही सही सुभाषितों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाए। निश्चय ही यह एक आरम्भमात्र है। विविध प्रकार के अनेकानेक ऐसे तथा श्रेष्ठतर संग्रह समाज की आवश्यकता है— अतः वे भी प्रकाश में आएँगे—ऐसा विश्वास है।

सुभाषित : महत्त्व और प्रभाव

सुभाषित जीवन और अनुभव के नवनीत हैं, मत विशेष की दृष्टि के दर्पण हैं, समाज के विचार व दृष्टि के लिए प्रकाश—स्तम्भ हैं तथा जीवन की प्रगति के सूत्र हैं। वे अतीत से छनकर आते हैं और वर्तमान व भविष्य को जोड़ते हैं। कालिदास—तुलसीदास हों या बिहारी—कबीर हों या गांधी—टैगोर— ये सब अपने व्यापक कृतित्व के अतिरिक्त सुभाषितों के भी माध्यम से जनसमाज के दैनिक जीवन में जीवित हैं। वेद—पुराण, रामायण—महाभारत को सम्पूर्णतः जानना विद्वज्जनों का क्षेत्र है। साधारणजन तो इनके विचारों की गंगा में सुभाषित—जल का आचमन कर अपने को धन्य मानता है, इन्हीं तपःपूत वाक्यों से जीने की सीख लेता है। अतः यह कथन अतिशयोक्ति नहीं है कि ग्रन्थ, आचार्य या मतविशेष के लोक में प्रचार का सरल, संक्षिप्त और प्रभावशाली माध्यम इनके सुभाषितों का प्रकाशन है।

दूर जाने की आवश्यकता नहीं। बौद्ध मत के ही कतिपय ग्रन्थों में सुभाषितों के महत्त्व और प्रभाव पर प्रकाश डाला गया है। इनके अनुसार सुभाषित ज्ञान के सार हैं। अमूल्य रत्न हैं जिन्हें चोर चुरा नहीं सकता। ये नीति का उपदेश देने वाले मंत्री हैं। संकट में कभी साथ न छोड़ने वाले मित्र हैं। यश और धन के भण्डार हैं। ये युक्तिपूर्वक ज्ञान कराते हैं कि किस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कैसा पुरुषार्थ अपेक्षित है। संकट—काल में कैसे धैर्य और साहस का परिचय देना चाहिये। रमणीयता और मधुरता में ये पुष्पोपहार की तरह हैं। जीवन के सरल, सुन्दर शास्त्र हैं। इसलिये व्यक्ति को चाहिये कि वह शरीर का मांस देकर भी इन्हें खरीदे अर्थात् हर मूल्य पर इन्हें प्राप्त करे।

सुभाषितों के लाभ और प्रभाव की चर्चा करते हुए बौद्ध ग्रन्थों में कहा गया है कि इनको सुनने मात्र से असंस्कृत और साधारण व्यक्ति का भी मन प्रसन्न और निर्मल हो जाता है, कल्याण—प्राप्ति की इच्छा स्थिर और बलवती हो जाती है। इनके दीप—प्रकाश में अज्ञान का विनाश और ज्ञान का विस्तार

होता है। ये वे शस्त्र हैं जो मोह का विनाश करते हैं। दुःख और बीमारी की ऐसी चिकित्सा करते हैं जिसमें पीड़ा का लेशमात्र भी नहीं होता। काम-क्रोधादि दोषों के निवारण में इनकी सामर्थ्य सिद्ध है। विवादों के निस्तारण में इनसे पर्याप्त मार्गदर्शन और सहायता मिलती है। सज्जन इस श्रेष्ठ उपहार को पाकर प्रसन्न होते हैं। अतः सटीक सुभाषित सुनकर अज्ञान के अभिमानी का झूठा यश और गर्व चूर-चूर हो जाता है। सुभाषित कहने वाले का यश बढ़ता है और श्रोता को पुरुषार्थ की प्राप्ति में सहायता मिलती है।

बौद्ध सुभाषित जीवन और जगत् के यथार्थ को बताने के साथ ही निर्वाण की दिशा में उनकी उपयोगिता को भी रेखांकित करते हैं। ये सुभाषित जीवन के प्रति सम्यक् दृष्टि देते हैं, मिथ्या दृष्टि का प्रहाण करते हैं, निर्वाण के प्रति प्रबुद्ध करते हैं, चित्त को निर्मल करते हैं और कुल मिलाकर जीने की कला सिखाते हैं। सहृदय व्यक्ति निष्ठा और गम्भीरता से इन्हें पढ़ता और आत्मसात् करता है तो निश्चय ही इनमें छिपी उस शक्ति का अनुभव करता है जो जीवन की धारा को मोड़ने में समर्थ है। ये सुभाषित प्रज्ञा की ऐसी पावनी गंगा है जिसमें अज्ञान और क्लेश के पाप प्रक्षालित हो जाते हैं और चित्त शुद्ध, सात्विक होकर लोककल्याणार्थ तत्पर हो जाता है।

बौद्ध सुभाषित

मान्यता यह है कि भगवान् बुद्ध के समस्त वचन सुभाषित हैं—‘भगवता बुधेन भासिते सवे से सुभाषित (अशोक का धर्मलेख, भाब्रू शिलालेख)। सामान्य दृष्टि से देखने पर भी बौद्ध सुभाषितों का क्षेत्र संकुचित नहीं है। धर्मप्रधान ग्रन्थों और साहित्यिक रचनाओं में जीवन के विविध पक्षों पर प्रचुर सुभाषित मिलते हैं (सुभाषितों की विषयसूची द्रष्टव्य)। प्रत्येक सुभाषित की पृष्ठभूमि में बौद्ध धर्म-दर्शन की जीवन-दृष्टि विद्यमान है। इनमें प्रतिपादित कुछ विचार वैदिक व पौराणिक ग्रन्थों से स्पष्ट साम्य रखते हैं और कुछ स्पष्ट वैषम्य। यही इनकी विलक्षणता और मौलिकता भी है। इसीलिये इनकी बौद्ध संज्ञा सार्थक है। ईश्वर, संसार, कार्यकारणभाव, कर्मफल, निर्वाण जैसे दार्शनिक विषयों से सम्बद्ध सुभाषितों के विचार, अन्य दर्शन-दृष्टि से विवादास्पद हो सकते हैं किन्तु ज्ञान, सत्य, सद्गुण, जरा, मृत्यु आदि के सुभाषितों में प्रकट किये गए विचारों से बौद्ध संहिता सभी सम्प्रदायों की सहमति स्वाभाविक है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन सुभाषितों के माध्यम से बौद्ध आचार्यों की तर्कप्रियता और लोकजीवन की प्राथमिक सुख-शान्ति के प्रति दृढ निष्ठा प्रखररूप में प्रकट होती है।

ये सुभाषित प्रथम दृष्ट्या मन को अच्छे तो लगते हैं किन्तु जब पाठक इन्हें आत्मसात् करने या जीवन में उतारने पर गम्भीरता से विचार करने लगता है तो इनकी निपट कटुकता या कटु सत्यता स्तब्ध कर देती है, कभी-कभी उदास भी कर देती है। इसलिये इनका अभ्यास सरल नहीं है। इनके अभ्यास का अर्थ है एक प्राचीन, प्रशस्त, प्रभावशाली और शक्तिशाली विचारधारा को जीवन-शैली बनाना तथा एक कठिन सद्धर्म का जीवन जीना। इसके लिए साहस व धैर्य की आवश्यकता है। ये वे जीवन सूत्र हैं जिनको मात्र एक बार पढ़ना ही पर्याप्त नहीं है अपितु इनकी यथासमय आवृत्ति भी आवश्यक है। इनके अभ्यास के लिये मास, वर्ष या कभी-कभी एक जीवन का अभ्यास भी कम है। इन सबके अतिरिक्त एक और कटु सत्य भी अविस्मरणीय है और वह यह कि इनके अभ्यासमार्ग पर व्यक्ति को अकेले ही बढ़ना होगा और यह समझना होगा कि किसी से किसी भी प्रकार के सहयोग, समर्थन, प्रोत्साहन या मान-सम्मान की अपेक्षा व्यर्थ है।

प्रस्तुत संग्रह

बौद्ध सुभाषितों के इस संग्रह में पालि, मिश्र संस्कृत और संस्कृत तीनों भाषाओं के नौ प्रधान ग्रन्थों से सामग्री संकलित की गई है—

सुत्तनिपात

सुत्तनिपात यह नाम संगीतिकारक भिक्षुओं द्वारा रखा गया है। फॉसबल ने सुत्तनिपात की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए बतलाया है कि इसकी भाषा वैदिक (छन्दस) भाषा से मिलती-जुलती है।

सुत्तनिपात में गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों प्रकार के सुत्त हैं, किन्तु पद्यात्मक सुत्तों का बाहुल्य है। इन सुत्तों में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का बड़ी मार्मिकता के साथ वर्णन किया गया है। सुत्तनिपात पाँच वर्गों में विभक्त है और इसमें ७० सुत्त आए हैं। इसमें तत्कालीन उत्तर भारत की सामाजिक, धार्मिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक आदि अवस्थाओं के सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री है। वर्ण-व्यवस्था का खण्डन, शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन, बुद्ध के गृहत्याग का कारण, नाना मतवादों का विस्तार, तापस जीवन की महत्ता, प्राचीन ब्राह्मणों के कर्तव्य, यज्ञ-हवन आदि की निस्सारता, समाज में व्याप्त मिथ्या विश्वासों का वर्जन, विभिन्न, दार्शनिक मतों का निराकरण, आत्मा, परमात्मा के ऊहापोह की निस्सारता, भिक्षुचर्या आदि विषयों पर इस ग्रन्थ में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

धम्मपद

बौद्ध गीता के नाम से प्रसिद्ध धम्मपद आकार की दृष्टि से यद्यपि छोटा ग्रन्थ है, फिर भी उसकी महनीयता और उपयोगिता समस्त बौद्ध वाङ्मय में सर्वोपरि समझी जाती है। इसमें ४२३ गाथाएँ हैं जिन्हें विषय-विभाग की दृष्टि से २६ वर्गों में बाँटा गया है।

धम्मपद के अध्ययन से ऐसा लगता है कि यहाँ धम्म शब्द मनुस्मृति (१/१०८) के 'आचारः परमो धर्मः' वाक्य के साथ अपना कोई न कोई सम्बन्ध रखे हुए है। पद शब्द मार्ग, स्थान और वाक्य का वाचक है। इस प्रकार धम्मपद का अर्थ हुआ सदाचार का मार्ग या सदाचार-सम्बन्धी वाक्य।

धम्मपद का संकलन प्रथम संगीति में ही सम्पन्न हो गया था। इसे लिखित रूप लंका-नरेश वट्टगाम्पी (८८-७६ ई.पू.) के समय में मिला। आचार्य बुद्धघोष से पूर्व धम्मपद पर सिंहली भाषा में धम्मपददठकथा उपलब्ध थी। उन्होंने इसका पालि रूपान्तर किया।

ललितविस्तर

ललितविस्तर बुद्ध-कथा और बौद्ध धर्म के प्रति आस्था की दृष्टि से बौद्ध साहित्य का प्राचीन और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह महायान विचारधारा से सम्बद्ध है। इसमें बुद्ध की ललितलीलाओं की अधिकता है, इसलिए इस ग्रन्थ का नाम ललितविस्तर पड़ा। अभिनिष्क्रमणसूत्र के अनुसार इसको महाव्यूह भी कहा गया है।

ललितविस्तर की रचना कब हुई या इसका रचयिता कौन है, यह निश्चितरूप से कहना कठिन है क्योंकि यह किसी एक लेखक की एकान्त रचना नहीं है अपितु यह विशद संग्रह है। इसकी समस्त कथावस्तु २७ परिवर्तों में विभक्त है। इनमें सर्वार्थसिद्ध बुद्ध के जन्म से लेकर धर्मचक्रप्रवर्तन व निर्वाण-प्राप्ति तक की कथा का वर्णन १५०४ श्लोकों में किया गया है। बुद्ध के जीवन-चरित का वर्णन ही ललितविस्तर का मुख्य उद्देश्य है। प्रधानरूप से यह गद्य-काव्य के रूप में है किन्तु बीच में इसमें गाथाएँ भी गूँथ दी गई हैं। शारदा गांधी का मत है कि यह ग्रन्थ ईसा की द्वितीय शती तक अपना स्वरूप ग्रहण कर चुका था।

सुवर्णप्रभाससूत्र

सु.प्र. मिश्र संस्कृत की रचना है। इसे सोने की आभा वाला बताया गया है— तत्सूत्रं स्वर्णप्रभा निगदितं शृण्वन्तु बोध्यर्थिनः। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपियों में कहीं पर सुवर्णप्रभाससोत्रम् तो कहीं स्वर्णप्रभासोत्तम नामों का उल्लेख मिलता है।

सु.प्र. का समय २०० ई. से ४०० ई. के मध्य होना चाहिए। निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ करुणापुण्डरीकसूत्र के समकालीन है किन्तु सद्धर्मपुण्डरीक के बाद की रचना है। इस ग्रन्थ रत्न में २१ परिवर्त हैं। प्रत्येक के अन्त में इसे श्रीसुवर्णप्रभासोत्तमसूत्रराज के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना का मुख्य उद्देश्य बुद्ध एवं बोधिसत्त्व की विपुलता एवं अलौकिक व्यक्तित्व को दर्शाना है। इसमें तथागत के आयु-परिमाण, पाप-देशना, शून्यता आदि का विस्तृत विवेचन है। परिवर्तों में बुद्ध की पूजा-अर्चना से प्राप्त होने वाले फलों का भी वर्णन है। महायान सूत्र-साहित्य में इस ग्रन्थ का अपना एक विशिष्ट स्थान है।

बुद्धचरितम्

अश्वघोष-विरचित बु.च. एक महाकाव्य है जिसमें बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त एवम् उनके अभिमत सिद्धान्तों का सर्वाङ्गीण चित्र उपस्थित किया गया है। भारतीय बौद्ध विद्वान् धर्मरक्ष ने इस महाकाव्य का चीनी अनुवाद ४१४-४२१ ई. के मध्य किया था। सन् १८६२ ई. में सिल्वॉलेवी ने बु.च. का प्रथम सर्ग प्रकाशित किया था। सूर्यनारायण चौधरी ने इस के २८ सर्गों का अनुवाद दो भागों में प्रकाशित किया है।

मूल संस्कृत में इसके २८ सर्ग विद्यमान थे किन्तु सम्प्रति यह अपूर्ण ही उपलब्ध होता है। इसका संस्कृत रूप जो इस समय प्राप्त होता है, उसमें केवल १७ सर्ग हैं जिनमें अन्तिम चार सर्ग अमृतानन्द (बौद्ध विद्वान्) द्वारा जोड़े गये बताये जाते हैं। काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट महाकाव्य के समग्र गुणों से यह संवलित है।

सौन्दरनन्दम्

अष्टादश सर्गों में रचित सौ. अश्वघोष का द्वितीय महाकाव्य है। सौ. का प्रथम प्रकाशन १६१० ई. में हुआ था। इसके सम्पादक हरप्रसाद शास्त्री थे जिन्होंने नेपाल में प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर इसका सम्पादन किया था। इस काव्य की तुलना टैनिसन के *In Memoriam* से की जा सकती है। १६२२ में विमलाचरण लाहा ने इसका बंगला अनुवाद प्रकाशित किया और १६२८ में जान्स्टन ने भी एक प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित कराया।

यह बौद्धधर्म की बहुमूल्य शिक्षाओं का अमूल्य कोश है। नन्द-दम्पति की मूल वेदना के अंकन में जो साफल्य लेखक को प्राप्त हुआ है वही उसे

बौद्ध धर्म के मूलभूत उपदेशों को ललित भाषा में चित्रित करने में भी प्राप्त है। यद्यपि यह बु.च. की अपेक्षा लघुकाय है तो भी हृदय के भाव-प्रकाशन में, मार एवं धर्म के भीषण द्वन्द्व के अंकन में और बौद्ध धर्म के आचारपरक उपदेशों के हृदयग्राही विवेचन में अवश्य ही उससे आगे है।

वज्रसूची

वज्रमयी हीरक-सूचिका के सदृश कठोर, तीव्र एवं सूक्ष्म दृष्टि से संवलित होने के कारण ही, यह रचना वज्रसूची कहलाती है। यह एक गद्य-पद्यमय लघुकाय ग्रन्थ है, किन्तु वर्ण-व्यवस्था के समर्थकों तथा उसके आधार पर ऊँच-नीच के भेदभाव के पोषकों को, यह वैसे ही चुभती तथा पीड़ित करती है, जैसे किसी को सुई के चुभने पर कष्ट होता है और यदि वह सुई वज्रमयी हुई, फिर उसके चुभनोपरान्त पीड़ा का कहना ही क्या?

अश्वघोष का यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में दो भागों में उपरचित है, पद्य-भाग एवं गद्य-भाग। दोनों पृथक् न होकर परस्पर सम्पृक्त हैं। यह दर्शन-ग्रन्थों अथवा काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों की सरणि पर लिखित है, जहाँ पूर्व-पक्ष को उपस्थापित कर उसका खण्डन, तदनन्तर सिद्धान्तपक्ष की स्थापना की जाती है।

इस ग्रन्थ में कुल मिलाकर ५३ श्लोक हैं और लगभग ४० छोटे-बड़े गद्य-खण्ड हैं।

बोधिचर्यावतार

शान्तिदेव (७वीं शताब्दी) विरचित बो.च. को तिब्बती में बोधिसत्त्वचर्यावतार भी कहते हैं। बो.च. को रूसी विद्वान् आई.पी. मिनायेव ने सबसे पहले जारचे में प्रकाशित किया था। बाद में हरप्रसाद शास्त्री ने भी Buddhist Text Society के जनरल में इसे प्रकाशित किया।

बो.च. का निबन्धन दस अध्यायों में विभक्त है। उनमें कुल ६०० से अधिक श्लोक हैं। महायान बौद्धधर्म में मान्य बोधि या पूर्ण ज्ञान तक पहुँचने के लिए आचार-विषयक नीतिनियमों का संग्रह बो.च. में निविष्ट है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति की चर्या (साधना) निरूपित है।

जातकमाला

जा.मा. की पाण्डुलिपियों में लेखक का नाम आर्यशूर उल्लिखित है। जा.मा. का एक अन्य नाम बोधिसत्त्वावदानमाला भी प्रचलित है।

नलिनाक्षदत्त जा.मा. की भाषा को लगभग तृतीय-चतुर्थ शताब्दी का मानते हैं। जा.मा. का चीनी अनुवाद ६६० से ११२७ के मध्य हुआ था। चीनी यात्री इत्सिंग (७वीं शती) ने इसके प्रचार का उल्लेख किया है। अजन्ता, एलोरा की दीवारों पर कुछ जातकों के दृश्य श्लोक सहित चित्रित हैं जिनकी लिपि को छठी शताब्दी का माना गया है।

जा.मा. का विश्वसाहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। चम्पू (गद्य-पद्य मिश्रित) शैली में लिखे गये इस काव्य में आर्यशूर ने पहली बार पाणिनि व्याकरण-सम्मत शुद्ध संस्कृत में बुद्ध के उपदेशों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

इसकी समस्त ३४ कथाओं का सन्देश यही है कि मनुष्य को मिथ्या दृष्टि का परित्याग करके सम्यग्दृष्टि का आश्रय लेना चाहिए। यह सम्यक् दृष्टि सद्धर्म को सुनने से ही विकसित हो सकती है। इसी के फलस्वरूप इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति हो सकती है। दूसरों को सुखी बनाए बिना कोई अकेला अपने सुख का पूर्णतः उपभोग नहीं कर सकता है।

इस सुभाषित संग्रह में अधोलिखित संस्करणों को आधार बनाया गया है—

सुत्तनिपात

भिक्षु धर्मरक्षित, (सम्पादन एवम् अनुवाद), मोतीलाल बनारसीदास, १९६५.

धम्मपद

प्रो. सत्यप्रकाश शर्मा (अनुवाद आदि), साहित्य भण्डार, मेरठ, द्वितीय संस्करण, १९७४.

ललितविस्तर

आचार्य शान्तिभिक्षु शास्त्री, (सम्पादन एवम् अनुवाद), उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९८४.

सुवर्णप्रभाससूत्रम्

डॉ. सत्यदेव कौशिक (सम्पादन एवम् अनुवाद), पाठक प्रकाशन, अण्डला, अलीगढ़, १९६६.

बुद्धचरितम्

महन्त श्री रामचन्द्रदास शास्त्री (सम्पादन एवम् अनुवाद), चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६६.

सौन्दरनन्दम्

डॉ. करुणा शंकर दुबे (सम्पादन एवम् अनुवाद), चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८६.

वज्रसूची

डॉ. रामायण प्रसाद द्विवेदी (सम्पादन एवम् अनुवाद), चौखम्भा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९८५.

बोधिचर्यावतार

डॉ. रामनिवास तिवारी (अनुवाद एवम् अध्ययन), बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, १९६३.

जातकमाला

डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास (सम्पादन एवम् अनुवाद), चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९६४.

इस संग्रह में कुल १५२४ सुभाषित हैं जिन्हें ७७ विषयों में, ग्रन्थों के यथासंभव ऐतिहासिक काल-क्रम से, वर्गीकृत किया गया है। उपयोगिता और विषय के वैचारिक विकास-क्रम की दृष्टि से यह स्वरूप समुचित प्रतीत हुआ। ग्रन्थ-क्रम से इनकी गणना को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. बुद्धचरितम्	४२६
२. जातकमाला	४००
३. धम्मपद	१६३
४. सौन्दरनन्दम्	१८४
५. सुत्तनिपात	१८३
६. ललितविस्तरः	७८
७. सुवर्णप्रभाससूत्रम्	२५
८. बोधिचर्यावतारः	२४
९. वज्रसूची	११

१५२४

स्पष्ट है कि सुभाषितों की दृष्टि से प्रस्तुत सूची में सर्वाधिक समृद्ध ग्रन्थ बुद्धचरितम् है और अश्वघोष की शैली सुभाषितमयी है।

इन सुभाषितों को ग्रन्थ-क्रम से भी प्रस्तुत किया जा सकता था किन्तु इस सरल मार्ग को कम उपयोगी माना गया। अतः वर्गीकरण और संख्याक्रम के निर्धारण का दुष्कर मार्ग चुना गया। विचार-बिन्दुओं के व्यवस्थित विकास-क्रम को सहज प्रदर्शन का अवसर प्रदान करने के लिए सुभाषितों के शीर्षक निर्धारित हुए। चयनित ग्रन्थों से इन शीर्षकों पर प्राप्त सुभाषितों को क्रमेण प्रस्तुत करते हुए सरल हिन्दी भाषा में उनके अनुवाद किये गये।

जहाँ तक विषयों के वर्गीकरण का प्रश्न है, अनेक ऐसे सुभाषित हैं जिनका सम्बन्ध एकाधिक विषयों से होने के कारण उन्हें अन्य विषय के अन्तर्गत भी रखा जा सकता था किन्तु उनके वक्तव्य की प्रधानता के कारण उनको विषय-विशेष के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया। इसलिए विषयों का यह वर्गीकरण पाठकों की सामान्य सुविधार्थ है— ऐसा माना जाना चाहिये।

बौद्ध विचारधारा का जीवनसूत्र अत्यन्त सरल भी है और कठिन भी। सरल इसलिये कि इसे केवल दो शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है और कठिन इसलिये कि इसका अनुकरण कठिन साधना और धैर्य की अपेक्षा रखता है।

सम्यक् एवं मिथ्या दृष्टि

बौद्ध विचारधारा के अनुसार जीवन को देखने की दो प्रधान दृष्टियाँ हैं— सम्यक् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि। सम्यक् दृष्टि अष्टांग मार्ग का प्रथम मार्ग या सोपान है। यह दृष्टि ज्ञान, निर्वाण, सुख व शान्ति की ओर ले जाती है। इसके अभ्यास से ही बुद्ध बुद्ध बने। सत्पुरुष, ज्ञानी, तपस्वी, दानी, सदाचारी, आर्य, श्रमण, भिक्षु, ब्राह्मण आदि सभी संज्ञाओं की सार्थकता का मूल यही दृष्टि है। करुणा, क्षमा, आरोग्य, धैर्य, श्रद्धा, शान्ति, सत्य, सन्तोष, मैत्री, सहनशीलता, अप्रमाद आदि सभी सद्गुण इसी दृष्टि की देन हैं। यही मनुष्यता का गौरव है। इस दृष्टि से सम्पन्न ज्ञानी का एक दिन का जीवन भी श्रेष्ठ है।

सम्यक् दृष्टि के अनुयायी आदर्श महापुरुषों के रूप में बुद्ध सर्वोपरि हैं। इनके अतिरिक्त जिन्हें वर्ग (पद) से इस दृष्टि का अभ्यासी माना गया है वे हैं मुनि, श्रमण, भिक्षु, आर्य, ज्ञानी, ब्राह्मण और सत्पुरुष।

सम्यक् दृष्टि के विपरीत मिथ्या दृष्टि है जो अज्ञान, क्लेश व अशान्ति की ओर ले जाती है। इस दृष्टि का अनुसरण करने वाला व्यक्ति प्रमादी और

अहंकारी बनकर अवनति के गर्त में गिरता है। कामासक्ति, कायासक्ति, भय, क्रोध, लोभ, तृष्णा, धनलोलुपता, आडम्बर, हिंसा आदि दुर्गुण इसी दृष्टि की देन हैं।

सम्यक् और मिथ्या दृष्टि में भेद का एक आधार, इन सुभाषितों में, आत्मा की नित्यता की मान्यता को बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध मत को अनात्मवादी भले ही कहा जाए, नास्तिक कहना युक्तियुक्त नहीं है। चन्द्रकीर्ति ने भी मध्यमकशास्त्र की टीका प्रसन्नपदा में स्पष्ट घोषणा की है—
'न वयं नास्तिकाः'।

अस्थैर्य

वैदिक विचारधारा से बौद्ध विचारधारा के मतभेद का एक बिन्दु इसका क्षणभंगवाद है। ईश्वर, आत्मा जैसे किसी तत्त्व को बौद्ध दर्शन नित्य नहीं मानता। इसीलिये इस संग्रह में ईश्वर-विरोधी कतिपय सयुक्तिक सुभाषितों का संग्रह है।

ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग को नित्य न मानते हुए भी पुनर्जन्म की मान्यता बौद्ध दर्शन की विशेषता है। गीता की भाँति यह मत भी जन्म के बाद मृत्यु को अपरिहार्य मानता है। विश्व के सभी पदार्थ, जीवन आदि परिवर्तनशील परिणामयुक्त, अनित्य व क्षणिक हैं। इन पर विश्वास करना व इन्हें नित्य मानना ही दुःख का कारण है। इनकी अनित्यता को दीपशिखा, मेघवर्षा, तडितलता इत्यादि उदाहरणों के माध्यम से यहाँ समझाया गया है।

काल

काल के विषय में, बौद्ध दर्शन की पारमार्थिक दृष्टि से हटकर, इन सुभाषितों में व्यवहार की दृष्टि से कुछ कटु सत्य उजागर किये गये हैं। जैसे यह विश्व कालाग्नि का ग्रास है। देवता, पृथ्वी, शरीर आदि सभी काल के दास हैं। काल की एक महती विशेषता यह है कि वह अपनी उपेक्षा करने वाले को कभी क्षमा नहीं करता।

काल-विषयक ये विचार बौद्ध मत के नित्यता-विरोधी विचारों के ही पूरक हैं।

जन्म

बौद्ध दृष्टि से जन्म ही महान् दुःख है। इसी के कारण जरा से साक्षात्कार होता है। इसलिये जन्म के क्षय से दुःखी होना मूर्खता है।

यौवन

युवावस्था पर सुभाषितों में कई व्यंग्य किये गये हैं। यह पहाड़ी नदी की तरह उन्मुक्त और तेज बहाव वाली है। शीघ्र ही वृद्धावस्था की शिकार बन जाती है। धर्म-अर्थ की शत्रु है। यह चञ्चल, मदान्ध और अदूरदर्शी होती है। जैसे पथिक बीहड़ जंगल की यात्रा समाप्त होने पर राहत की सांस लेता है वैसे ही ज्ञानी व्यक्ति यौवन-काल की समाप्ति पर तूफान की शान्ति का अनुभव करता है।

जरा

जरा के कष्टकारी स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह वीर्य, तेज पराक्रम, सुख आदि का हरण कर लेती है। किन्तु इस अवस्था का एक उज्ज्वल पक्ष भी है। इसका गुणों के विकास में सदुपयोग किया जा सकता है। यह मनुष्य को धैर्यशील व विचारशील बनाकर थोड़े प्रयत्न से शान्ति भी दिलाती है।

मृत्यु

जन्म के क्षण से ही मृत्यु सभी का पीछा करना प्रारम्भ कर देती है। यह किसी के प्रति भेद-बुद्धि नहीं रखती है। ज्ञानी, योद्धा, राजा, तान्त्रिक, वैद्य, विद्याधर, राक्षस और हाथी आदि समर्थ पशु भी इससे नहीं बच सकते। केवल धर्म में स्थिर रहने वाले संन्यासी को छोड़कर शेष सभी इससे डरते हैं। मृत्यु प्रतिपल निकट रहती है तथापि लोग सांसारिक सुख में मग्न रहते हुए उसे नहीं देख पाते— यह आश्चर्य है।

कर्मफल

कर्मफल के विषय में एक सामान्य धारणा यह है कि अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे कर्म का बुरा फल अवश्य मिलता है। किन्तु नित्य आत्मा व कर्ता को माने बिना, क्षणभंगवाद की मान्यता से, इसकी संगति कैसे स्थापित होती है इस पर तत्त्वसंग्रह में शान्तरक्षित ने विस्तार से युक्तियुक्त विचार किया है।

संग्रहीत अनेक सुभाषितों में कर्मफल पर प्रकाश डाला गया है। इनके अनुसार कर्मफल के नियमानुसार ही यह संसार चल रहा है। अकाल,

उल्कापात, नक्षत्र, जल, वायु के उत्पात, स्वर्ग—नरक, वंश, अवस्था, रोग, ऋतु आदि सभी कर्म के अनुशासन से सञ्चालित हैं। कर्मशील व्यक्ति सर्वत्र यश, सम्मान, सुख, सन्तोष और सौन्दर्य को प्राप्त करता है। सत्कर्म सच्चा मित्र है तथा दुष्कर्म शत्रु। सत्पुरुष की थोड़ी—सी सेवा भी बड़ा फल देती है।

निर्वाण

निर्वाण बौद्ध विचारधारा का सर्वोच्च तत्त्व या पुरुषार्थ है। किन्तु इसके स्वरूप के विषय में न केवल वैदिक दर्शनों से इसका मतभेद है अपितु इसी के अवान्तर सम्प्रदायों (हीनयान—महायान) में भी मतभेद है। निर्वाण भावरूप है या अभावरूप यह भी एक विवादास्पद विषय है।

सुभाषितों में निर्वाण को अविनश्वर, तृष्णा, बन्ध—शोक, प्रियाप्रियता आदि से शून्य, परम सुख व परमपद बताया गया है। यह शान्त, दोषरहित, अद्वितीय आध्यात्मिक आनन्द है।

इसी के अन्तर्गत सुभाषितों में मार्गजिन, स्नातक, नाग, कुशल और आज्ञानीय की परिभाषाएँ दी गई हैं।

लोक-स्वभाव

बौद्ध धर्म में निर्वाण की दृष्टि से संसार भले ही बाधक और निस्सार हो किन्तु पारमिताओं के अभ्यास के लिए तो इसकी सार्थकता है ही।

बौद्ध सुभाषित संसार और समाज के प्रसंग में कुछ ऐसी व्यावहारिक बातें भी कहते हैं जिन्हें अनुभवजन्य और सर्वस्वीकार्य माना जा सकता है। जैसे सबको जीवन प्रिय होता है। इसमें सुख—दुःख, हानि—लाभ दोनों हैं। लाख प्रयत्न करने पर भी यह सुरक्षित नहीं है। यह द्वेष, मोह, वितर्क आदि दोषों से तपा जा रहा है। आग से घिरे घर की तरह सांसारिक जीवन सदैव किसी—न—किसी प्रकार की विपत्तियों से आक्रान्त रहता है। इसलिये इसमें शान्ति नहीं है।

अच्छे कार्यों को करने वालों के प्रति भी कृतज्ञता का भाव संसार में दुर्लभ है। व्यक्ति स्वयं के प्रति भी यहाँ ईमानदार और वफ़ादार नहीं हो पाता है तो पुत्र और धन—सम्पत्ति से सदा साथ की आशा व्यर्थ है। सब स्वार्थवश एक दूसरे से जुड़ते हैं। संसार का वास्तविक कल्याण कोई नहीं

चाहता। इसलिये अपने-पराए के निर्णय का यहाँ कोई ठोस मानदण्ड नहीं है। अच्छे-बुरे का निर्णय करने का एकमात्र मानदण्ड गुण-दोष है। यह निश्चित है कि सब स्वतन्त्रता में सुख मानते हैं किन्तु वह (स्वतन्त्रता) दुर्लभ है। इन सुभाषितों में पराधीनता की स्पष्ट परिभाषा दी गई है—“बाह्य वस्तुओं को महत्त्व देना पराधीनता है।

संसार का एक सत्य संयोग-वियोग के अविच्छेद्य सम्बन्ध को बताया गया है।

यह जगत् विडम्बनाओं से परिपूर्ण है। हम जिससे मोह बढ़ाते हैं वही वस्तु, न चाहते हुए भी, हमसे छूट जाती है, विलग हो जाती है। शुभ कार्यों के अशुभ फल मिलना, तनिक-सी कृतज्ञता की भी गुणों में गणना होना और अनार्यों का शास्त्रों के माध्यम से, अधर्म का प्रचार करने में सफल होना भी विडम्बना ही है।

सद्धर्म और नीति

बौद्ध धर्म की मान्यता के अनुरूप बौद्ध सुभाषितों का सन्देश भी सद्धर्म है। यही सनातन जीवन मूल्य है, यही नीति है क्योंकि नीति वही है जो मनुष्य को आनन्द, कल्याण और कीर्ति दे।

धर्म-प्रधान बौद्ध मत में धर्म की मान्यता परम्परा से कुछ हटकर है। सुभाषितों में धर्म के लक्षण, वैशिष्ट्य, प्रभाव, समाजहित में इसकी भूमिका आदि पर प्रकाश डाला गया है। सच्चे धार्मिक पर विचार करते हुए यहाँ अनेक कटु उक्तियाँ भी कही गयी हैं जो धार्मिक आडम्बर पर गहरी चोट करती हैं।

बौद्ध मत में धर्म का प्रधान लक्षण करुणा है। सभी प्राणियों पर दया दिखाना तथा सत्य, अहिंसा आदि का आचरण करना सद्धर्म है। पुण्यात्माओं के वचनों का ग्रहण और अनुकरण भी धर्म के अन्तर्गत आता है। धर्म का छल से कोई नाता नहीं है। दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इसी प्रकार सज्जन और दुर्जन के धर्मों में आकाश और पृथ्वी से भी अधिक दूरी है। धर्म ही मानव का सच्चा रक्षक है, धन और बल नहीं।

धर्मका अनुयायी बनना सरल नहीं है। धार्मिक होने का अर्थ श्रम का त्याग करके घास वाली कठोर जमीन पर मात्र आसन लगा लेना या अन्य प्रकार से शरीर को पीड़ा देना नहीं है। मात्र बोलने और चिल्लाने से भी धर्म का निर्वाह

नहीं हो सकता। वेश-भूषा या बहुभाषण भी धार्मिक होने की पहिचान नहीं है। धर्मानुयायी को सुख की आशा नहीं करनी चाहिए। सच्चे धार्मिक को मृत्यु का भय नहीं सताता। उसके लिए वह आनन्ददायिनी होती है। उसे दृढ़ विश्वास होता है कि धर्म ही उसकी रक्षा करेगा इसलिए वह निर्द्वन्द्व होकर सुख की नींद सोता है। धर्मप्रेमी धर्म को त्यागने के बदले में इन्द्र-पद को भी ठुकराने के लिए तत्पर रहता है। सद्धर्म सदैव निर्दोष है किन्तु धार्मिक यदि उस पर स्थिर न रहे तो इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है।

विपदग्रस्त स्त्रियों, रोगियों, संयमियों और बुद्धिमानों की रुचि धर्म में स्वाभाविकरूप से होती है।

धर्म ही नीति है। इसके अनुसार वैर से वैर शान्त नहीं होता। असाधु को साधुता से ही जीता जा सकता है। ईमानदारी से सब कुछ सम्भव है। जिस कार्य के परिणाम में पश्चात्ताप की सम्भावना हो उसे न करना ही श्रेयस्कर है। कार्य की सफलता के उत्साह में असत् धर्म या दुर्नीति का आश्रय अनुचित है।

धर्मों के विवादों के कारण ही समाज में विवाद उत्पन्न होते हैं। धर्म यदि शान्त हो जाए अर्थात् परस्पर सौहार्द और सामञ्जस्य का भाव अपना ले तो समाज में शान्ति स्थापित हो सकती है। इन सुभाषितों में एक ओर सद्धर्म के ज्ञान को कठिन भी बताया गया है तो दूसरी ओर इसकी उपेक्षा को कलह का कारण भी माना गया है। धर्म कोई व्यापार नहीं है जिसमें लाभ-हानि का विचार करके विवेकपूर्वक आचरण किया जाए।

अधर्म के परिणाम के प्रति सचेत करते हुए यहाँ कहा गया है कि मूर्ख तभी तक पाप को मधु समझता है जब तक उसका पाप के फल से सामना नहीं होता। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ पापी पाप कर्म के फल से बचने के लिए जा छुपे।

बौद्ध सुभाषितों में सद्गुणों को तीर्थ कहा गया है। जाति नहीं, गुण से कल्याण होता है। अतः गुण प्रशस्य और सुखदायी होते हैं। निर्गुणी सूखे कुँए की तरह निरर्थक हैं।

सुभाषितों का अनुभव है कि विजय से शत्रुता बढ़ती है। इसलिये व्यक्ति को जय-पराजय के भाव से परे रहना चाहिये। बिना परीक्षा दिये महत्त्व

की कामना उचित नहीं है। वेदज्ञ की शोभा निरभिमानता है, धनिक की द्वेषाभाव तथा वनवासी की सन्तोष है। बिना गुणों के शारीरिक सौन्दर्य व्यर्थ है। ज्ञानी व्यक्ति सदैव गुणी की रक्षा करते हैं। अगुणी व्यक्ति भी गुणों की प्रशंसा से प्रेरणा ग्रहण करता है।

सत्य, सम्यक् भाषण, तप, दान, क्षमा, श्रद्धा, शुद्धि, सन्तोष, सहनशीलता, धैर्य, लज्जा, उद्यम, मित्रता आदि सदगुणों पर सुभाषितों में प्रकाश डाला गया है।

प्राचीन और अर्वाचीन समाज का एक दुर्गुण मद्यमान है। सुभाषितों (१०८५-११०१) में इसके शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक आदि दुष्प्रभावों का विवरण दिया गया है जो आज भी प्रासंगिक है।

व्यक्तिगत जीवन और निर्वाण के प्रसंग में शान्ति के प्रबल पक्षधर बौद्ध मत के विचार राजा और राज्य के विषय में भिन्न और व्यावहारिक हैं। सुभाषितों के अनुसार राजा को सज्जनों का आदर तो करना ही चाहिये किंतु दुर्जनों को दण्ड भी अवश्य देना चाहिये। शान्तिप्रिय राजा का प्रशासन शिथिल हो जाता है। शान्ति और तीक्ष्णता में वैर है और राजा को तीक्ष्णता ही अपेक्षित है। राजा का अपना कोई दुःख-सुख नहीं होता, प्रजा का दुःख-सुख ही उसका दुःख-सुख होता है। धर्मविरोधी राजनीति के अनुसार चलना ही राजधर्म है।

गृहस्थ

भिक्षु और गृहस्थ परस्पर विपरीत धर्म हैं तथा इनकी भेदक रेखा विषयासक्ति है। भिक्षु में यदि वासना है तो वह गृहस्थ ही है तथा गृहस्थ यदि विषयासक्ति पर विजय पा लेता है तो वह भिक्षु-तुल्य ही है। विषयासक्ति के कारण गृहस्थ सदा दुःख में डूबा रहता है और पराधीनता उसकी नियति बन जाती है। गृहस्थ जीवन उन लोगों के लिए नहीं है जो वैराग्यभाव, सत्यनिष्ठा और कल्याण की प्रवृत्ति रखते हैं।

नारी

संग्रहीत सुभाषितों में नारी के व्यक्तित्व, सामर्थ्य, व्यवहार, मनोविज्ञान, चातुर्य, प्रभाव आदि पर टिप्पणियाँ की गई हैं।

चित्त की निर्मलता को परम लक्ष्य मानने वाले इस मत में मार अथवा काम को लक्ष्य-प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा माना गया है और काम का केन्द्र स्त्री है। इसलिये कामासक्ति व तृष्णा को निर्वाण में बाधक मानने का अर्थ

है स्त्री को बाधक मानना। यहाँ यह तथ्य भुला दिया गया कि पुरुष के लिए कामासक्ति का केन्द्र यदि नारी है तो नारी के लिए पुरुष है। इसलिये न्यायोचित यह होगा कि यदि निर्वाण में वासना बाधक है तो नर-नारी दोनों को एक दूसरे के निर्वाण में बाधक मानना चाहिये। किन्तु ऐसा न मानकर और केवल पुरुषों के पक्ष की दृष्टि से स्त्री को बुरा बताकर पुरुष-प्रधानता को ही प्रश्रय दिया गया है।

नारी-व्यक्तित्व के विषय में सुभाषितों का विचार है कि नारी अनात्मस्वरूप, अपवित्र व दुःखरूप है। इसकी वाणी में मधु और हृदय में हलाहल होता है अर्थात् इसकी कथनी-करनी में बहुत असंगति होती है, प्रवञ्चना होती है। इसका वामा (प्रतिकूल व्यवहारवाली) नाम सर्वथा उचित है। यह मधुर भाषण, लालन-पालन और न मैत्री भाव को मान्यता देती है। इसका स्वभाव अस्थिर होता है और शिक्षित स्त्रियाँ तो विशेषरूप से चञ्चलता दिखाती हैं। इनके चातुर्य का क्या बखान किया जाए, क्या उदाहरण दिये जाएँ। ये कभी-कभी न देने वाले को भी सुख से निहाल कर देती हैं तथा देने वाले को भ्रम-जाल में उलझाए रखती हैं। इनके समक्ष यदि कोई नम्रता का व्यवहार करता है तो ये अपने अहंकार को परवान चढ़ा लेती हैं किंतु जब पुरुष अपने स्वाभिमान का प्रदर्शन करता है तो ये उससे सन्तुष्ट व प्रसन्न हो जाती हैं।

सद्गुण इसे अच्छे लगते हैं। ये ऐसे पुरुष का पति के रूप में वरण करने को तत्पर रहती हैं। किन्तु निर्गुणी या गुणहीन के प्रति इनका मातृभाव जाग पड़ता है अर्थात् उस पर ये पुत्रवत् अधिकार जताने को आतुर हो जाती हैं। धनवानों का धन देखकर इनकी तृष्णाएँ जाग उठती हैं किंतु इसके विपरीत धनहीन का अगर इनसे वास्ता पड़े तो ये उसका तिरस्कार करने में ही अपना गौरव मानती हैं।

स्त्री में ऐसा आकर्षण-बल होता है जिसके समक्ष, अपवादों को छोड़कर, प्रायः सभी पुरुष नतमस्तक हो जाते हैं। इसकी सामर्थ्य पर सन्देह व्यर्थ है। इसके लिए कोई भी कार्य असम्भव नहीं है।

युवा स्त्रियों के मनोविज्ञान का उद्घाटन करते हुए सुभाषित कहते हैं कि इनमें धर्म-जिज्ञासा का आडम्बर तो हो सकता है किंतु वस्तुतः ऐसी जिज्ञासा स्वभावतः नहीं हो सकती। फिर भी यदि ये धर्माचरण में, धार्मिक कर्मकाण्ड में लिप्त दिखाई देती हैं तो यह आश्चर्य का ही विषय है। स्त्री के मन को समझना असंभव-सा है।

स्त्री के स्पर्श को तो सर्वाधिक हानिकर और विपत्ति का कारण बताया गया है। उसको छूना विष-लता को छूना है, खुली तलवार से खेलना है और सांप की गुफा में सफाई अभियान चलाना है। जब स्पर्श इतना विपत्तिकारक है तो संसर्ग से होने वाले अनर्थों की तो बात ही क्या? इसका दो परिवारों से सम्बन्ध होता है और वामा स्त्री यदि अपना स्वभाव प्रकट करे तो पिता और पति दोनों के कुल की प्रतिष्ठा को धराशायी कर सकती है।

स्त्रियों के विषय में इन प्रतिकूल व तीखी टिप्पणियों के साथ ही एक अनुकूल वक्तव्य यह भी दिया गया है कि वे पराधीन होती हैं। इस एक वक्तव्य के मर्म में जाने पर कभी-कभी पूर्व समस्त प्रतिकूल वक्तव्य निरर्थक प्रतीत होने लगते हैं क्योंकि उसका समस्त प्रतिकूल व्यवहार उसे पुरुष द्वारा पराधीन बनाकर रखने की प्रतिक्रिया से उपजा प्रतीत होता है।

सुभाषितों की इन टिप्पणियों को सम्पूर्ण बौद्ध मत का दृष्टिकोण तो नहीं माना जा सकता। किन्तु इनमें प्रतिपादित विचारों को तत्कालीन सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मानने से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। इन विचारों को किसी समय भले ही आवश्यक, उचित, प्रासंगिक और लोककल्याणकारक माना गया हो किन्तु वर्तमान सामाजिक परिवेश में इनको न्यायोचित मानना संभव नहीं है। न ही ऐसा कहा जा सकता है कि इसमें प्रतिपादित समस्त विचार सम्पूर्ण नारी वर्ग पर समानरूप से लागू होते हैं। मनुष्य में अपवादों की कमी नहीं है और व्यक्तिगतरूप से कुछ नारी-चरित्र भले ही इन सुभाषितों को सार्थक सिद्ध करें किन्तु इनका सामान्यीकरण खतरनाक एवं अन्यायपूर्ण है।

स्त्रियों के प्रति बौद्धों का दृष्टिकोण आधुनिक सामाजिक व्यवस्था से संगति नहीं रखता। बुद्ध की उपस्थिति में यह पक्ष विवादास्पद बन गया था। ऐतिहासिक विवरण बताते हैं कि बुद्ध स्त्रियों के विहारों के पक्ष में नहीं थे। गौतमी और आनन्द के प्रयत्न से स्त्रियों के स्वतन्त्र विहार की बात बुद्ध को स्वीकार करना पड़ी थी। समस्त प्राणियों के प्रति सहज करुणा से परिपूर्ण बौद्ध विचारधारा में स्त्रियों के प्रति कठोरता या तिरस्कार का व्यवहार क्यों रहा और वस्तुतः बौद्ध विचारधारा में स्त्रियों का स्थान क्या है यह सब स्वतन्त्र अनुसन्धान का विषय है।

श्रम-शौर्य

बौद्ध विचारधारा का सम्बन्ध श्रमण-परम्परा से है। इसलिये शान्ति का सन्देश देने वाला यह मत जीवन-संग्राम के लिए श्रम-पराक्रम-साहस को भी पर्याप्त महत्त्व देता है। सुभाषितों में प्रेरणादायी और आत्मविश्वास बढ़ाने वाली अनेक उक्तियाँ हैं, जैसे श्रमशील परापेक्षी नहीं होता। सूर्य का कोई सहायक नहीं फिर भी वह लक्ष्य को प्राप्त करता ही है। लाखों जुगनू भी सूर्य के समक्ष निस्तेज हैं। सियारों का शोर, सिंह की अनुपस्थिति में ही सुनाई देता है। दृढप्रतिज्ञ के लिए कुछ भी असाध्य नहीं। उद्यम को मित्र मानने वाला और प्रमाद को शत्रु मानने वाला लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है।

मंगलकामना

सभी के हित व सुख को जीवन का प्रयोजन मानने वाले बौद्ध सुभाषितों की मंगल कामना है कि सब सुखी हों। किसी को दुःख न मिले। सामाजिक प्राणियों में विरोध न होकर परस्पर सद्भाव, सामन्जस्य और अनुकूलता हो।

जिन सुभाषितों के प्रति मैं पाठकों का ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट करना चाहता हूँ उनमें कतिपय हैं—

शास्त्र के शब्दार्थ के साथ खिलवाड़ का परिणाम वैसा ही भयंकर होता है जैसे शस्त्र को उल्टा पकड़ने का—

अर्थतः शब्दतश्चापि शास्त्रं ग्राह्यं विधानतः।

नो चेत्स्वाङ्गं हि कृन्तन्ति विपरीतधृतायुषाः॥१९॥

दूसरों के कल्याण की भावना सर्वोपरि है। ज्ञान होने पर भी यह भावना नहीं आई तो स्वयं को अज्ञानी ही समझिये—

श्रुतोन्नतस्यापि हि नास्ति बुद्धिर्नोत्पद्यते श्रेयसि यस्य बुद्धिः॥२५॥

कभी-कभी व्यक्ति अति उत्साह, दबाव या प्रभाव में आकर ऐसी प्रतिज्ञा कर बैठता है जो वस्तुतः उसकी सामर्थ्य से बाहर होती है। इसलिये सुभाषित सावधान करता है कि ऐसी प्रतिज्ञा से प्रतिष्ठा की हानि ही होगी, लाभ कुछ नहीं होगा—

आत्मप्रमाणग्रहणानभिज्ञो व्यर्थप्रतिज्ञो ह्यधिकं न भाति॥ २८॥

अहिंसा का समर्थक बौद्ध दर्शन मांस-भक्षण का कैसे समर्थन कर सकता है। किंतु सुत्तनिपात के कुछ सुभाषित कहते हैं कि हिंसा, चोरी, असत्य-भाषण, निरर्थक ग्रन्थों का अध्ययन, परस्त्री-गमन, विषम नास्तिक दृष्टि, मित्रद्रोह, अदान, क्रोध, मद, ईर्ष्या, आत्मप्रशंसा, जीवों के प्रति निर्दयता इत्यादि दुर्गुण मांस-भक्षण से भी अधिक बुरे हैं-

कोषो मदो थम्भो पच्चुद्वापना च, माया उसूया भस्ससमुस्सयो च।

मानाति मानो च असम्भिसन्धवो, एसामगन्धो न हि मंसभोजन॥ १६१॥

बौद्ध विचारधारा जाति, लिंग, वर्ण आदि के भेदभाव को नहीं मानती। इस धर्म को विश्वधर्म का सम्मान दिलाने में यह मान्यता भी सहायक रही है। कबीर ने कहा था 'जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिये ज्ञान'। किन्तु सुत्तनिपात कबीर से बहुत पहले यह मंत्र अधिक व्यावहारिक रूप में दे चुका है- जाति नहीं, आचरण पूछो। ज्ञान की अपेक्षा आचरण को महत्त्व देना अधिक व्यावहारिक है-

मा जातिं पुच्छ चरणं च पुच्छ॥ ७४॥

आचरण या शील को सर्वाधिक महत्त्व देना बौद्ध मत का वैशिष्ट्य है। क्योंकि वस्त्र आभूषण, शारीरिक सौन्दर्य से भी व्यक्ति उतना अच्छा नहीं लगता जितना शील से। शील की सुगन्ध सर्वोत्तम होती है जो मनुष्यों को ही नहीं देवताओं को भी प्रभावित करती है-

यो च सीलवतं गन्धो, वाति देवेषु उत्तमो॥ ७९॥

धर्माचरण के विषय में एक भ्रान्ति यह है कि केवल जल पीना, हवा खाना, थोड़ी मात्रा में भोजन करना, पत्ते-फलफूल खाना जैसी सीमाओं में जीवन व्यतीत करने से व्यक्ति धार्मिक हो जाता है। किन्तु अश्वघोष का मत है कि ऐसे संयम-नियम चित्त को शुद्ध करने में समर्थ नहीं है। चित्त की शुद्धि तो सदाचरण से ही होगी-

शीलेन दोषमाक्रम्य चित्तमादौ विशोधय॥ १०७॥

युवक के लिए काम, मध्य वय वाले व्यक्ति के लिए धन एवं वृद्ध के लिए धर्म की आराधना स्वाभाविक है-

शक्नोति जीर्णः खलु धर्ममाप्तुं कामोपभोगेष्वगतिर्जरायाः।

अतश्च यूनः कथयन्ति कामान्मध्यस्य वित्तं स्थविराय धर्मम्॥ १३॥

‘महाजनो येन गतः स पन्था’ अथवा ‘यद् यद् आचरति श्रेष्ठः तत् तत् देवतरो जनः’ के भाव को जातकमाला की इस उक्ति में देखा जा सकता है—

प्रधानभूतस्य विचेष्टितानि जनोऽनुकर्तुं नियतस्वभावः॥ १२९॥

त्यागी का सम्मान उसके अपूर्ण कार्य को पूरा करने में है न कि उसकी मूर्ति बनाकर माला पहिने में—

अभिप्रायसंपादनात्पूजा कृता भवति न गन्धमाल्याद्यभिहारेण॥ १४९॥

धर्म के नाम पर आडम्बर से बौद्ध आचार्य अति रुष्ट हैं। धार्मिक वेश—भूषा या चिन्हों के दुरुपयोग को वे अक्षम्य अपराध मानते हैं। ऐसे भिक्षुओं को राक्षस कहने में भी उन्हें संकोच नहीं—

असंयताः संयतवेषधारिणश्चरन्ति कामं भुवि भिक्षुराक्षसाः॥ १५७॥

वासना की निन्दा बौद्धों का प्रिय विषय है। वे मानते हैं कि यह देवताओं में भी होती है। यह अनर्थकारी है और इससे कभी तृप्ति नहीं होती—

अरूपेषु सरूपेषु देवेष्वपि हि वासना॥ २३४॥

भोजन को औषधि की मात्रा की तरह ग्रहण करना चाहिये—

रागद्वेषवियुक्तः सन् मात्रावच्चौषधस्य वै।

क्षुच्छान्तये हरेदन्नं शरीरस्थितयेऽथवा॥ २८७॥

एकाकीपन को सदधर्माचरण के अनुकूल मानते हुए इसके अभ्यास पर बल दिया गया है—

एको चरे खग्विसाणकप्पो॥ ३१९॥

किन्तु दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि मनुष्य को इस भ्रम में नहीं रहना चाहिये कि इस संसार में कहीं भी एकान्त है और उसके पापाचरण को कोई नहीं देख रहा है—

स्वकार्यपर्याकुलमानसत्वात्पश्येन्न वान्यश्चरितं परस्य।

रागार्पितैकाग्रमतिः स्वयं तु पापं प्रकुर्वन् नियमेन वेत्ति॥ ३२६॥

करुणा बौद्ध मत का सर्वोच्च मूल्य है। सत्पुरुष हत्यारे को भी संकट से घिरा देखकर उसके प्रति करुणा ही दिखाते हैं—

जिघांसुमप्यापद्गतमनुकम्पन्त एव महाकारुणिका नापेक्षन्ते॥ ३४७॥

स्तुति, यश एवं सत्कार से स्वास्थ्य, सुख, आयु, बल, पुण्य जैसा कोई लाभ नहीं होता—

स्तुतिर्यशोऽथ सत्कारो न पुण्याय न चायुषे।

न बलार्थं न चारोग्ये न च कायसुखाय मे॥ ३७९॥

निस्सार शरीर का यही सार है कि इसे परोपकार का साधन बनाया जाए—

असारस्य शरीरस्य सारो ह्येष मतः सताम्।

यत्परेषां हितायेषु साधनीक्रियते बुधैः॥ ४१३॥

काल की अग्नि में सारा विश्व तप रहा है। काल की अपेक्षा या इससे बैर, विनाश को निमन्त्रण है। रावण के विनाश का कारण भी कालरूपिणी सीता का ग्रहण था—

ननाश रावणः सीता गृहीत्वा कालरूपिणीम्॥ ४३७॥

एक ओर पौराणिक विचारधारा गृहस्थ आश्रम को सर्वोत्तम मानती है तो दूसरी ओर बौद्ध विचारधारा इसे अस्वास्थ्यकर, दुःखपूर्ण, असत्य भाषण की बाध्यता वाला, धर्म के सर्वथा विपरीत तथा अशान्ति व असन्तोष से परिपूर्ण कहती है—

शीलप्रशमप्रतिपक्षसम्बाधं गार्हस्थ्यम्॥ ४९२॥

इसे विडम्बना ही कहा जाना चाहिये कि गुणहीन व्यक्ति को भी संगी-साथी मिल जाते हैं किन्तु तपोवन या तपस्या के मार्ग पर अग्रसर होने वाले गुणी व्यक्ति का कोई भी साथ नहीं देता—

द्वित्राणि मित्राणि भवन्त्यवश्यमापद्गतस्यापि सुनिर्गुणस्य।

सहाय एकोऽप्यतिदुर्लभस्तु गुणोदितस्यापि वनप्रयाणे॥ ५८२॥

जब तक तृष्णा है तब तक व्यक्ति दरिद्र है—

यावत्सतर्षः पुरुषो हि लोके तावत्समृद्धोऽपि सदा दरिद्रः॥ ६०१॥

सौन्दरनन्दम् की उपर्युक्त उक्ति भर्तृहरि के इस वचन का स्मरण दिलाती है—

स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला।

‘आत्मा है’— यह सम्यक् दृष्टि है, नहीं है यह मिथ्या दृष्टि है—

आत्मास्तीति मतं तात मिथ्यादृष्टिर्निगद्यते।

नास्तीति मतं सौम्य सम्यग्दृष्टिं विदुर्बुधाः॥ ७३९॥

आर्य—अनार्य पुरुषों में भेद का कारण उनकी भिन्न—भिन्न दृष्टियाँ हैं। एक के लिए जो सुख है वही दूसरे के लिए दुःख है।

यं परे दुःखतो आहु, तदरिया सुखतो विदुः॥ ६७०॥

सुत्तनिपात की यह उक्ति गीता के इस वचन का स्मरण कराती है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

सब सुख की ही कामना करते हैं। दुःख को कोई नहीं चाहता। किन्तु सत्य यह है कि अत्यधिक दुःख उठाने के बाद ही सुख प्राप्त होता है—

दुःखं न स्यात्सुखं मे स्यादिति प्रयतते जनः।

अत्यन्तदुःखोपरमं सुखं तच्च न बुध्यते॥ ७१०॥

निम्न वर्ग के लोगों की अपेक्षा सुकुमार या सुविधाभोगी लोग दुःख से अधिक दुःखी होते हैं—

किणाङ्कितानीव मनांसि दुःखैर्न हीनवर्गस्य तथा व्यथन्ते।

अदृष्टदुःखान्यतिसौकुमार्याद्यथोत्तमानां व्यसनागमेषु॥ ७२९॥

सज्जन का एक परिचय यह भी है कि उसका अपना कोई दुःख नहीं होता। बल्कि दूसरों के दुःख को ही वह अपना मानता है—

परदुःखमेव दुःखं साधूनाम्॥ ७३५॥

धन—संग्रह के लिए पुरुषार्थ अपेक्षित है। भिक्षा में प्राप्त अन्न से निर्धनता को समाप्त कर धनी नहीं बना जा सकता—

न भैक्षोपहाराः कस्याचिद्दारिद्र्यक्षामतां क्षपयन्ति॥ ७७१॥

धर्म शान्त तो सभी सामाजिक विवाद भी शान्त—

सब्बेसु धम्मेषु समूहेतेसु, समूहता वादपथा' पि सब्बे' ति॥ ७७५॥

वाचालता धार्मिकता का लक्षण नहीं है—

त तावता धम्मधरो, यावता बहु भासति॥ ७८३॥

न च वाक्यरुतरवेणा शक्याः संपादितुं कुशलधर्मान्॥ ७८८॥

धर्म और अध्यात्म के साध्य—साधनरूप को सुत्तनिपात ने संक्षेप में इस प्रकार स्पष्ट किया है— “न तो मछली मांस खाना, न नंगा रहना, न उपवास करना, न सिर मुड़ाना, न जटा धारण करना, न राख पोतना, न कड़े मृगचर्म को पहिनना, न अग्नि—हवन करना, न अमरत्व की आकाङ्क्षा से अनेक प्रकार के तपों को करना, न मन्त्रपाठ करना, न हवन करना, न यज्ञ करना और न ऋतुओं का उपसेवन करना ही संशययुक्त मनुष्य को शुद्ध कर सकते हैं (१३२३)।”

चित्तशुद्धि, तत्त्वज्ञान, शान्ति अथवा धर्माचरण के लिए न तो वनगमन और न ही भिक्षु—वेषधारण अनिवार्य है। यह लक्ष्य तो नगर में रहकर गृहस्थ जीवन जीते हुए भी प्राप्त किया जा सकता है—

न चैष धर्मो वन एव सिद्धः पुरेऽपि सिद्धिर्नियता यतीनाम्।

बुद्धिश्च यत्तश्च निमित्तमत्र वनं च लिङ्गं च हि भीरुचिह्नम्॥ ९१४॥

सङ्केत-सूची

जामा	—	जातकमाला
ध	—	धम्मपद
पा	—	पालि
बु	—	बुद्धचरितम्
बोधिच	—	बोधिचर्यावतारः
लवि	—	ललितविस्तरः
व	—	वज्रसूची
सं	—	संस्कृत
सुनि	—	सुत्तनिपात
सुप्रसू	—	सुवर्णप्रभाससूत्रम्
सौ	—	सौन्दरनन्दम्

बौद्ध-सुभाषित

अज्ञान

१. यो वे अविद्धा उपधिं करोति, पुनप्पुनं दुक्खमुपेति मन्दो।

सुनि, ३.१२.५

जो मूर्ख वासनाओं में पड़ा रहता है; वह बार-बार दुःख में पड़ता है।

२. अविज्जा हयं महामोहो।

सुनि, ३.१२.७

यह अविद्या महामोह है।

३. परस्स चे हि वचसा निहीनो, तुमो सहा होति निहीनपज्जो।

अथ चे सयं वेदगू होति धीरो, न कोचि बालो समणेसु अत्थि।

सुनि, ४.१२.१३

यदि दूसरे के कहने से कोई हीन होता, तो वह स्वयं भी प्रज्ञाविहीन हो सकता है। यदि अपने कहने से कोई ज्ञानी और धीर होता, तो श्रमणों में कोई भी मूर्ख नहीं है।

४. नत्थि बाले सहायतां। (पा)

नास्ति बाले सहायता। (सं.)

धप, ६१

मूर्ख की सहायता अच्छी नहीं है।

५. अप्पस्सुतायं पुरिसो, बलिबद्दो व जीरति। (पा)

अल्पश्रुतोऽयं पुरुषो बलीवर्द इव जीर्यति। (सं.)

धप, १५२

अल्पज्ञानी मनुष्य बैल की तरह बूढ़ा हो जाता है।

६. अविज्जा परमं मलं। (पा)

अविद्या परमं मलम्। (सं.)

धप, २४३

अविद्या परम मैल है।

७. कियद्द्विभूषितो बालः पापाचारी न शोभते। (सं.)

धप., ३.७६

मूर्ख एवं पापाचारी कितना ही बना—ठना क्यों न हो, शोभा नहीं देता।

८. विस्तीर्णमज्ञानमहो नराणां हसन्ति ये रोगभयैरमुक्ताः॥

बु., ३.४६

अहो! मनुष्यों का यह कितना बड़ा अज्ञान है जो रोग—भय से ग्रस्त होने पर भी हँसते हैं।

९. यस्तु दृष्ट्वा परं जीर्णं व्याधितं मृतमेव च।
स्वस्थो भवति नोद्विग्नो यथाचेतास्तथैव सः॥

बु., ४.६०

जो व्यक्ति किसी वृद्ध, रोगी या शव को देखकर भी स्वस्थ या शान्त बना रहता है एवं उद्विग्न नहीं होता है, वह वैसा ही है जैसा जड़ (अज्ञानी)।

१०. मृत्युव्याधिजराधर्मा मृत्युव्याधिजरात्मभिः।
रममाणो ह्यसविग्नः समानो मृगपक्षिभिः॥

बु., ४.८९

मृत्यु, व्याधि एवं जरा स्वरूप मनुष्य, मृत्यु, व्याधि तथा जरारूप विषयों में रमता हुआ यदि अनुरक्त ही रहता है तो वह पशु—पक्षियों के समान है।

११. असंशयं मृत्युरिति प्रजानतो नरस्य रागो हृदि यस्य जायते।
अयोमयीं तस्य परैमि चेतनां महाभये रज्यति यो न रोदिति॥

बु., ४.९९

‘मृत्यु निश्चित है’—यह बात जानते हुए भी जिन मनुष्यों के हृदय में भोगेच्छा होती है उनकी बुद्धि (मैं) लोहे की समझता हूँ। वह महाभय को देखते हुए भी विषय से राग करता है (किन्तु) रोता नहीं है।

१२. सन्तापहेतुर्न सुतो न बन्धुरज्ञाननैमित्तिक एष तापः॥

बु., ९.३४

सन्ताप का कारण न पुत्र है और न बन्धु। दुःख का वास्तविक कारण तो अज्ञान है।

१३. इत्यविद्यां हि विद्वान्स पंचपर्वी समीहते।
तमो मोहं महामोहं तामिस्रद्वयमेव च।

बु., १२.३३

तम, मोह, महामोह, तामिस्रद्वय (दो तामिस्र)—इन पाँच पर्वों को विद्वान् अविद्या कहते हैं।

१४. द्रष्टा श्रोता च मन्ता च कार्यकारणमेव च।
अहमित्येवमागम्य संसारे परिवर्तते॥

बु, १२.३८

द्रष्टा, श्रोता, ज्ञाता, कार्य एवं कारण— मैं ही हूँ— ऐसा मानता हुआ वह संसार में भटकता रहता है (बार-बार जन्म लेता है)।

१५. काममोहतमश्छन्ना दृष्टिलोकस्य वै ध्रुवम्।
महादुःखाद्विनिर्गन्तुं सन्मार्गं नानुपश्यति॥

बु, १४.५१

निश्चय ही मनुष्यों की दृष्टि काम-मोह-रूप अन्धेरे से ढकी है, (इसीलिए) महादुःख से निकलने का सच्चा मार्ग नहीं दीखता।

१६. लोके तूच्चपदस्थोऽपि नरः पापरतो यदि।
प्रकाशस्थस्य चेतस्य चित्तं तमसि वर्तते॥

बु, २०.२७

संसार में जो ऊँचे पद पर रहते हुए भी पाप-कर्म में लगा हुआ रहता है, उसका चित्त प्रकाश में रहता हुआ भी अन्धकार में ही है।

१७. सूक्ष्मबुद्धेरभावाद्वा भ्रमाद्वा विषयाग्रहात्।
काचरत्नं समादत्ते मणिं हित्वाऽतिमूल्यकम्॥

बु, २५.४२

सूक्ष्म बुद्धि के अभाव अर्थात् अज्ञान या भ्रम के कारण अथवा विषयासक्ति के कारण लोग बहुमूल्य मणि को छोड़ कर काँच की मणि को ले लेते हैं।

१८. न्याय्यमन्याय्यमित्येवमन्याय्यं न्याय्यमेव च।
पश्यत्यज्ञो विरुद्धं हि शास्त्राध्ययनवर्जितः॥

बु, २५.४५

शास्त्र का अध्ययन न करने वाला अज्ञानी पुरुष न्याय्य (उचित) को अन्याय्य (अनुचित) एवं अन्याय्य को न्याय्य— इस तरह विरुद्ध देखता है।

१९. अर्थतः शब्दतश्चापि शास्त्रं ग्राह्यं विधानतः।
नो चेत्स्वाङ्गं हि कृन्तन्ति विपरीतधृतायुधाः॥

बु, २५.४६

शास्त्र को अर्थ एवं शब्द से भी विधि-पूर्वक समझना चाहिये। अन्यथा (जैसे) उल्टा शस्त्र पकड़ने वाले अपने ही अंग काट लेते हैं (वैसा ही उसके साथ भी होगा)।

२०. ते शोच्या ये मुनिं दृष्ट्वा नाद्यापि सुपथं ययुः।
स्वर्णाकरं गताश्चापि दरिद्रा एव चागताः॥

वु., २५.७४

वे व्यक्ति शोक करने योग्य हैं जो मुनि के दर्शन करके आज भी सुमार्ग पर नहीं चले। वस्तुतः वे सोने की खदान में जाकर भी दरिद्र ही लौटे।

२१. अविद्यारतिर्दुःखतमारतिभ्यः।

सौ., ५.२४

पीड़ितों में अविद्या का दुःख सर्वाधिक दुःखकारी है।

२२. परदोषविचक्षणाः शठास्तदनार्याः प्रचरन्ति योषितः।

सौ., ८.३३

दूसरों के दोष को देखने का कार्य मूर्ख और अनार्य स्त्रियाँ ही करती हैं।

२३. व्यथन्ते ह्यपुनर्भावात् प्रपातादिव बालिशाः।

सौ., १२.२२

मूर्ख व्यक्ति पुनर्जन्म से ऐसे व्यथित होते हैं जैसे प्रपात से।

२४. यः स्यान्निकेतस्तमसोजनिकेतः श्रुत्वापि तत्त्वं स भवेत्प्रमत्तः।

सौ., १७.१४

जो व्यक्ति बेघर होकर अज्ञान को घर मानता हो वह तत्त्व को सुनकर भी प्रमादी ही रहेगा।

२५. श्रुतोन्नतस्यापि हि नास्ति बुद्धिर्नोत्पद्यते श्रेयसि यस्य बुद्धिः।

सौ., १८.३५

विद्वान् होने पर भी यदि कल्याणकारी बुद्धि नहीं है तो वह वस्तुतः बुद्धिहीन ही है।

२६. आपदां मूलभूतत्वाद् बाल्यं चाधममिष्यते।

जामा, ७.२१, पृ. ८६

मूर्खता अथवा अज्ञान मुसीबतों का मूल कारण है। अतः वह निश्चय ही अत्यन्त निकृष्ट है।

२७. मात्सर्यदैन्यं तु परा तमिस्रा।

जामा, ८.३९, पृ. १०६

कृपणता और दैन्य प्रकट करना तो बड़ा अन्धकार (अज्ञान) होता है।

२८. आत्मप्रमाणग्रहणानभिज्ञो व्यर्थप्रतिज्ञो ह्यधिकं न भाति।

जामा, २१.१९, पृ. २६२

अपनी शक्तियों को न जानकर व्यर्थ प्रतिज्ञा करने वाला प्रतिष्ठा की हानि करता है।

२९. धिगहो बत दुर्वृत्तमज्ञानमतिदारुणम्।

यत्पातयति दुःखेषु सुखाशा कृपणं जगत्॥

जामा, २४.२९, पृ. ३२६

अहो, अत्यन्त दारुण और मिथ्या अज्ञान को धिक्कार है जो सुख की आशा वाले व्याकुल प्राणियों को दुःखों में गिरा देता है।

अप्रमाद/प्रमाद

३०. अप्रमादो अमृतपदं प्रमादो मच्चुनो पदं। (पा)

अप्रमादोऽमृतपदं! प्रमादो मृत्योः पदम्॥ (सं.)

धप, २१

अप्रमाद अमृतत्व का स्थान है (और) प्रमाद मृत्यु का स्थान है।

३१. अप्रमत्तस्स यशोऽभिवद्दति। (पा)

अप्रमत्तस्य यशोऽभिवद्दति। (सं.)

धप, २४

अप्रमादी का यश बढ़ता है।

३२. अप्रमत्तो हि ज्ञायन्तो पप्पोति विपुलं सुखं। (पा)

अप्रमत्तो हि ध्यायन् प्राप्नोति विपुलं सुखम्॥ (सं.)

धप, २७

ध्यानशील अप्रमत्त व्यक्ति निश्चय ही बहुत अधिक सुख प्राप्त करता है।

३३. प्रमादो गरहितो सदा। (पा)

प्रमादो गर्हितः सदा। (सं.)

धप, ३०

आलस्य हमेशा निन्दनीय है।

३४. जानन्विनाशं कथमार्तिकाले सचेतनः स्यादिह हि प्रमत्तः।

बु, ३.६२

विनाश को जानता हुआ भी सचेतन (जागरूक व्यक्ति) विपत्तिकाल में प्रमादी कैसे रह सकता है?

अवनतिकारण

३५. धम्मकामो भवं होति धम्मदेस्सी पराभवो।

सुनि, १.६.२

धर्मकामी की उन्नति होती है और धर्मद्वेषी की अवनति।

३६. जातित्थद्धो धनत्थद्धो गोत्तत्थद्धो च यो नरो।

सज्जातिं अतिमज्जेति तं पराभवतो मुखं॥

सुनि, १.६.१४

जो नर जाति, धन और गोत्र का घमण्ड करता है, अपने भाई-बन्धुओं का भी जाति के कारण अनादर करता है, वह उसकी अवनति का कारण है।

३७. इत्थिधुत्तो सुराधुत्तो, अक्खधुत्तो च यो नरो।

लद्धं लद्धं विनासेति तं पराभवतो मुखं॥

सुनि, १.६.१६

जो व्यक्ति स्त्रियों के पीछे पड़ा रहता है, शराबी और जुआड़ी है और कमाए हुए धन को नष्ट कर देता है, वह उसकी अवनति का कारण है।

३८. सेहि दारेहि असन्तुट्ठो वेसियासु पदिस्सति।

दिस्सति परदारेषु तं पराभवतो मुखं॥

सुनि, १.६.१८

जो अपनी पत्नी से असन्तुष्ट रहता है, वेश्याओं और पराई स्त्रियों के साथ दिखाई देता है, वह उसकी अवनति का कारण है।

३९. अतीतयोब्बनो पोसो, आनेति तिम्बरुत्थनिं।

तस्सा इस्सा न सुपति, तं पराभवतो मुखं॥

सुनि, १.६.२०

वृद्ध व्यक्ति जब नवयुवती को लाता है, तो उसकी ईर्ष्या के कारण वह नहीं सो सकता है, वह उसकी अवनति का कारण है।

४०. इत्थिसोण्डिं विकिरणिं, पुरिसं वा पि तादिसं।

इस्सरियस्मिं ठापेति, तं पराभवतो मुखं॥

सुनि, १.६.२२

जब किसी लालची या सम्पत्ति को नष्ट करने वाली स्त्री या पुरुष को सम्पत्ति का मालिक बना दिया जाय, तो वह उसकी अनवति का कारण है।

४१. अप्यभोगो महातण्हो, खत्तिये जायते कुले।
सो, ध रज्जं पत्थयति, तं पराभवतो मुखं॥

सुनि, १.६.२४

क्षत्रिय कुल में उत्पन्न किन्तु अल्प सम्पत्ति वाला और महालालची पुरुष जब राज्य की कामना करता है तो वह उसकी अवनति का कारण है।

अस्थैर्य

४२. जातस्स मरणं होति।

सुनि, ३.१२.१९

उत्पन्न हुए की मृत्यु होती है।

४३. अप्पं हिदं जीवितमाहु धीरा।

सुनि, ४.२.४

धीरों ने इस जीवन को अल्प कहा है।

४४. अप्पं वत जीवित इदं।

सुनि, ४.६.१

यह जीवन बहुत ही अल्प है।

४५. मरणन्तं हि जीवितं। (पा)
मरणान्तं हि जीवितम्। (सं.)

धप, १४८

जीवन (तो) मरने तक (ही) होता है।

४६. नास्ति नित्यु संस्कृते।

लवि, १३.४५०

इस संस्कृत (बणावटी जगत) में (कुछ भी) नित्य नहीं है।

४७. क्षयान्तधर्मि सर्वि भावु।

लवि, १३.४५०

सब भावों (= पदार्थों) का धर्म (स्वभाव) क्षीण होने एवं अन्त का है।

४८. चक्षुरनित्यमध्रुवं तथ श्रोत घ्राणं जिह्वाऽपि काय मन दुःखा अनात्म शून्याः।

लवि, २६.१४५१

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन (ये सभी) अनित्य, अध्रुव, दुःख, अनात्मक एवं शून्य हैं।

४९. सर्वे भवाङ्ग क्षयक्षीण क्षय निरुद्धाः।

लवि, २६.१४५८

सबके सब भवांग क्षय—स्वभाव वाले होने के कारण स्वयं ही क्षीण होकर निरुद्ध हो जाते हैं।

५०. लोकाश्च सर्वे परिणामवन्तः।

बु, ७.२०

सारा संसार परिवर्तनशील है।

५१. लता इवाम्भोधरवृष्टिताडिताः प्रवृत्तयः सर्वगता हि चंचलाः।

बु, ११.६८

मेघ की वर्षा से ताडित लता सदृश विश्वव्यापिनी प्रवृत्तियाँ चञ्चल हैं।

५२. अहो जीवा न कुत्रापि लभन्ते शर्म च स्थितिम्।

जायन्ते चैव जीर्यन्ते म्रियन्ते च पुनः पुनः॥

बु, १४.५०

अहो! जीव कहीं भी न तो सुख पाते हैं और न स्थिरता। बारम्बार जन्म लेते हैं, बूढ़े होते हैं एवं मरते हैं।

५३. यथा जगदिदं सर्वमनित्यं त्रिदिवं तथा।

बु, १८.९.

जैसे यह संसार अनित्य है उसी प्रकार स्वर्ग भी (अनित्य) ही है।

५४. सर्वं संपरिवर्ति हि॥

बु०, २०.४०

संसार में सब कुछ परिवर्तनशील है।

५५. कर्माधीना अरूपा हि देवा अपि न शाश्वताः।

बु, २०.४८

रूपरहित देवता भी कर्म के अधीन हैं तथा नित्य नहीं हैं।

५६. यज्जन्यं तदनित्यं वै स्वाश्रितं नेह किञ्चन।

अतो न कोऽपि लोकेऽस्मिन्नमरो भवितुं क्षमः॥

बु, २४.१६

जो जन्य (कर्ता क्रिया से उत्पन्न) होता है, वह अनित्य होता है, इस लोक में स्वाश्रित (स्वाधीन) कुछ नहीं है। अतः कोई भी प्राणी इस लोक में अमर होने में समर्थ नहीं है।

५७. जीवनं क्षणविध्वंसि नात्र किञ्चिद्धि शाश्वतम्॥

बु, २४.३७

जीवन क्षणभंगुर है। यहाँ कुछ भी शाश्वत नहीं है।

५८. सर्वं चात्र क्षणात्मकम्।

बु०, २४.३८

यहाँ सब कुछ क्षणभंगुर है।

५९. नेह केऽपि सनातनाः।

बु, २४.४२

यहाँ कोई सदा रहने वाला नहीं है।

६०. प्रवातस्थस्य दीपस्य शिखावज्जीवनं चलम्॥

बु, २५.८०

हवा में जलती हुई दीपशिखा के समान जीवन चञ्चल है।

६१. नित्यं परिणमत्येतद्विश्वं शश्वत्स्वरूपतः।

अतो न प्रलयो ह्यस्य चापि नो नित्यता भवेत्॥

बु., २६.२१

यह शाश्वत (सनातन) विश्व, स्वरूप से ही निरन्तर परिणामयुक्त है। अतः इसका प्रलय नहीं होता और इसकी नित्यता भी नहीं है।

६२. अहो नश्यं जगत्सर्वं मृत्यवे ह्येव जन्म वै।

मृत्युश्च जन्मने चैव यस्य नोभौ स भाग्यवान्॥

बु, २७.२

अहो! यह सम्पूर्ण जगत् नश्वर है। यहाँ मृत्यु के लिए ही जन्म होता है तथा जन्म के लिए ही मृत्यु होती है। जिसको ये दोनों नहीं होते, वह भाग्यवान् है।

६३. इमं क्षणात्मकं लोकं जीवलोकं वदन्ति ह।

बु, २७.९

इस क्षणभंगुर संसार को जीवलोक कहते हैं।

६४. अविश्वास्यं हि जीवितं।

सौ., १५.५७

यह जीवन विश्वास करने योग्य नहीं है।

६५. यत्संप्रयोगा विरहावसानाः समुच्छ्रया पातविरूपनिष्ठाः।
विद्युल्लताभङ्गुरलोलमायुस्तेनैव कार्यो दृढमप्रमादः॥

जामा, ६.७

संयोग का अन्त वियोग है और उत्थान का अन्त पतन है। बिजली की चमक के समान आयु क्षणभंगुर है। अतः दृढ़ता से जागरूक रहना चाहिये।

६६. सम्पत्तिरिव वित्तानामध्रुवा स्थितिरायुषः।

जामा, ५.२५.

यह जीवन, धनसम्पत्ति की तरह, अस्थिर है।

६७. कृपणा बत लोकस्य चलत्वविरसा स्थितिः।

जामा, ३२.७.

संसार की स्थिति अस्थिरता के कारण दुःखदायी और दयनीय है।

६८. अवार्यवीर्येष्वरिषु स्थितेषु जिघांसया व्याधिजरान्तकेषु।
अवश्यगम्ये परलोकदुर्गे हर्षावकाशोऽत्र सचेतसः कः॥

जामा, ३२.९

बीमारी, बुढ़ापा और मृत्यु जैसे महाशक्तिशाली अजेय शत्रु मारने के लिए उद्यत हैं और परलोकरूपी दुर्ग में (हर प्राणी को) अवश्य जाना है, तब ज्ञानी मनुष्य के लिए आनन्द का अवसर ही कहाँ है?

अहंकार

६९. सत्यात्मनि परित्यागो नाहंकारस्य विद्यते।

बु, १२.७६

आत्मा के (नित्य) विद्यमान रहते अहंकार का परित्याग नहीं हो सकता।

७०. अपि वह्निः कणः सूक्ष्मो दाहात्मैव न शीतलः।
दुःखात्मैव तथा चैकोऽहं भावस्य कणां मतः॥

बु, १५.४८

अग्नि का छोटे से छोटा कण भी दहनशील होता है, शीतल नहीं हो सकता। इसी तरह अहंभाव का सूक्ष्म अंश भी दुःखद ही होता है।

७१. गुणान् वृणोत्यहम्भावो यथा धूमो हि पावकम्॥

बु, २३.३०

अहंभाव, गुणों को उसी तरह ढक लेता है जैसे धुँआ अग्नि को।

७२. द्योतन्ते न च सन्तोऽपि ह्यहंकारावृता गुणाः।

बु, २३.३१

विद्यमान रहने पर भी गुण अहंकार से ढक जाने के कारण, प्रकाशित नहीं होते हैं।

७३. लज्जां निहन्ति चापत्यं शोको धैर्यं जरा रूचम्।
अहङ्कारो गुणानां तु मूलमुत्खातयत्यलम्॥

बु, २३.३२

चञ्चलता लज्जा को नष्ट करती है। शोक धैर्य को एवं वृद्धावस्था कान्ति को नष्ट करती है। (किन्तु) अहंकार तो गुणों के मूल को ही सर्वथा उखाड़ फेंकता है।

आचार

७४. मा जातिं पुच्छ चरणं च पुच्छ।

सुनि, ३४.८

जाति मत पूछो, आचरण पूछो।

७५. छेत्वा आसवानि आलयानि विद्वा सो न उपेति गणभसेय्यं।
सब्बं तिविधं पनुज्ज पङ्गं नेति तमाहु अरियोति॥

सुनि, ३७.२७

जो विज्ञ आस्रवों (चित्त के मलों) के आलयों को समाप्त कर फिर जन्म नहीं ग्रहण करता है, जो सारे त्रिविध कामों को त्याग कर फिर काम भोग में नहीं पड़ता उसे आर्य कहा जाता है।

७६. यो इध चरणेषु पत्तिपत्तो, कुसलो सब्बदा आजानाति धम्मं।
सब्बत्थ न सज्जति विमुत्तो, पटिषा यस्स न सन्ति चरणो सो॥

सुनि, ३६.२७

जो शीलों का पालन करने वाला है, कुशल है, सदा धर्म को जानने वाला है, सर्वत्र अनासक्त है, विमुक्त है और जिसमें द्वेषभाव नहीं है, वह आचारवान् है।

७७. अनरिय धम्मं कुसला तमाहु, यो आतुमानं सयमेव पावा॥

सुनि, ४.३.३

जो व्यक्ति (दूसरों के बिना पूछे) अपने (शील, व्रतों) के सम्बन्ध में स्वयं ही बतलाता है उसके व्यवहार को कुशल लोग अनार्य धर्म कहते हैं।

७८. शीलगन्धो अनुत्तरो। (पा.)
शीलगन्धोऽनुत्तरः। (सं.)

धप, ५५

शील (सदाचार) की गन्ध सर्वोत्तम है।

७९. यो च शीलवतं गन्धो, वाति देवेसु उत्तमो। (पा.)
यश्च शीलवतां गन्धो वाति देवेषु उत्तमः। (सं.)

धप, ५६

जो गन्ध शीलवन्त लोगों की है, वह उत्तम गन्ध देवलोक में भी फैलती है।

८०. तं च कम्मं कतं साधु, यं कत्वा नानुत्पत्तिः॥ (पा.)
तच्च कर्म कृतं साधु यत्कृत्वा नानुत्पत्ते। (सं.)

धप, ६८

और वही कर्म अच्छी तरह किया हुआ कर्म है जिसके करने पर (कर्त्ता) दुःखी नहीं होता है।

८१. अभिवादनशीलिस्स निच्चं वृद्धापचायिनो।
वत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्यो सुखं बलं। (पा.)
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धापचायिनः।
चत्वारो धर्मा वर्द्धन्ते आयुर्वर्णः सुखं बलम्॥ (सं.)

धप, १०९

अभिवादनशील और हमेशा वृद्धजनों की सेवा में तत्पर रहने वाले व्यक्ति के आयु, वर्ण, सुख और बल— ये चार बढ़ते हैं।

८२. एकाहं जीवितं सेय्यो, शीलवन्तस्स झायिनो। (पा.)
एकाहं जीवितं श्रेयः शीलवतो ध्यायिनः। (सं.)

धप, ११०

शीलवान् और ध्यानी व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है।

८३. एकाहं जीविकं सेय्यो, विरियमारभतो दलहं। (पा.)
एकाहं जीवितं श्रेयो वीर्यप्रारभतो दृढम्। (सं.)

धप, ११२

दृढ़तापूर्वक वीर्य (प्रयत्न) प्रारम्भ कर देने वाले व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है।

८४. एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो धम्ममुत्तमं॥ (पा.)
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यतो धर्ममुत्तमम्। (सं.)

धप, ११५

उत्तम धर्म को देखने वाले व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है।

८५. अभित्यरेथ कल्वाणे। (पा)
अभित्वरेत कल्याणे। (सं)

धप, ११६

कल्याणकारी (शुभ) कार्यों में शीघ्रता करें।

८६. साधु दस्सनमरियानं। (पा.)
साधु दर्शनम् आर्याणाम्। (सं.)

धप, १५.२०६

आर्यों का दर्शन शुभ है।

८७. सुद्धो सीलेन सम्पन्नो, यशोभोगसमप्पितो।
यं यं पदेसं भजति, तत्थ तत्थेव पूजितो॥ (पा.)
श्रद्धाशीलेन सम्पन्नो यशोभोगसमर्पितः।
यं यं प्रदेशं भजते यत्र तत्रैव पूजितः॥ (सं.)

धप, ३०३

श्रद्धा (और) शील से सम्पन्न, यश (और) भोग से युक्त (व्यक्ति) जिस-जिस प्रदेश में रहता है, वहीं-वहीं (वह) पूजित होता है।

८८. दुस्सीलो हि बहुज्जनो। (पा.)
दुःशीलो हि बहुः जनः। (सं.)

धप, ३२०

दुःशील मनुष्य निश्चय ही अधिक हैं।

८९. कुरु सत्त्वानां सुखम्।

सुप्रसू., पृ. १५६

प्राणियों के सुख के लिए कार्य करो।

९०. दुष्कर आत्मपरित्यागः।

सुप्रसू., पृ. १७९.

आत्मबलिदान अति कठिन है।

९१. दाक्षिण्यमौषधं स्त्रीणां दाक्षिण्यं भूषणं परम्।
दाक्षिण्यरहितं रूपं निष्पुष्पमिव काननम्॥

बु, ४.७०

अनुकूलता स्त्रियों के लिए औषधि है। अनुकूलता उत्तम आभूषण है। अनुकूलता-रहित रूप (सौन्दर्य) पुष्प-शून्य वाटिका के समान है।

१२. यो ह्यर्थधर्मो परिपीड्य कामः स्याद्धर्मकामौ परिभूय चार्थः।
कामार्थयोश्चोपरमेण धर्मस्त्याज्यः स कृत्स्नो यदि काङ्क्षितोऽर्थः॥

बु, १०.२९

यदि समस्त प्रयोजनों की पूर्ति चाहिये तो अर्थ एवं धर्म को पीड़ित करके जो काम होता है तथा धर्म और काम को पराजित करके जो अर्थ होता है एवं काम और अर्थ को नष्ट करके जो धर्म होता है— वह त्याज्य है।

१३. शक्नोति जीर्णः खलु धर्ममाप्तुं कामोपभोगेष्वगतिर्जरायाः।
अतश्च यूनः कथयन्ति कामान्मध्यस्य वित्तं स्थविराय धर्मम्॥

बु, १०.३४

वृद्ध (व्यक्ति) धर्म प्राप्त कर सकता है। कामोपभोगों में बुढ़ापे की गति नहीं है। अतः युवा के लिए काम, मध्य के लिए धन एवं वृद्ध के लिए धर्म स्वाभाविक है।

१४. न तथा द्योतते भव्यं रूपमाभरणानि ते।
न महार्षाणि वस्त्राणि शीलं संशोभते यथा॥

बु, २३.११

भव्य रूप एवं भूषण तथा बहुमूल्य वस्त्र उतनी शोभा नहीं देते जितना कि यह शील।

१५. शान्तिर्यशश्च विश्वासो मोदोऽथो पारलौकिकः।
शीलवृक्षस्य पक्वानि फलान्येतानि मानदः॥

बु, २३.१७

हे मानद! शान्ति, यश, विश्वास तथा पारलौकिक आनन्द, ये सब शीलरूपी वृक्ष के पके हुए फल हैं।

१६. चराचरस्य विश्वस्य यथाधारो वसुन्धरा।
निखिलानां गुणानां च तथा शीलं शुभाश्रयः॥

बु, २३.१८

वसुन्धरा (पृथ्वी) चराचर विश्व का आधार है। इसी तरह शील सम्पूर्ण गुणों का शुभ आश्रय है।

१७. विना शीलेन निर्वाणो लभ्यते न कदाचन॥

बु, २३.१९

बिना शील के कभी मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

१८. धनिनो रूपिणो वापि विना शीलेन मानवाः।
फलपुष्पयुताश्चापि कण्टकाद्या इव॥

बु, २३.२०

धनी एवं रूपवान मनुष्य भी शील के बिना, फल पुष्प से युक्त कंटिले वृक्ष की तरह होते हैं।

९९. शीलं चेच्छोभनं यस्य महर्षिप्रतिमो हि एव सः॥

बु, २३.२१

शील के साथ यदि सौन्दर्य भी है; तो व्यक्ति साक्षात् महर्षि है।

१००. मुनिः शीलविहीनश्चेन्मिथ्याचारी स उच्यते॥

बु, २३.२२

शील-विहीन मुनि मिथ्याचारी कहा जाता है।

१०१. त्रिकालतीर्थसंस्नातस्त्रिकालहुतपावकः।

तपस्वी शीलहीनश्चेदकिञ्चित्कर एव सः॥

बु, २३.२३

यदि तपस्वी है, त्रिकाल तीर्थ-स्नान करता है, त्रिकाल हवन करता है किन्तु शीलविहीन है तो वह अकिञ्चित् (व्यर्थ का) परिश्रमी है।

१०२. भृगुपाते जले वापि वह्नौ वा पतितुं क्षमः।

शक्तिमानप्यशीलश्चेदकिञ्चित्कर एव सः॥

बु, २३.२४

(चाहे वह) भृगुपात में (ऊपर से कूदना), जल में, अग्नि में भी कूदने में समर्थ हो, बड़ा शक्तिमान हो, किन्तु शीलविहीन हो तो वह अकिञ्चित् ही है।

१०३. जलाशी पवनाशी वा स्वल्पाशी फलभुग् हि वा।

तृणभुक्चाप्यशीलश्चेन्न शुद्ध्यति कदाचन॥

बु, २३.२५

जल पीकर रहने वाला, पवन पीकर रहने वाला, थोड़ा खाकर रहने वाला तथा पत्ती खाकर रहने वाला भी क्यों न हो, यदि शीलवान् नहीं है, तो वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता है।

१०४. दुःशीलः पशुवन्मूढो न स धर्मस्य भाजनम्।

सच्छिद्रजलपात्रं हि नापो धारयितुं क्षमम्॥

बु, २३.२६

दुःशील प्राणी पशु की तरह है, वह धर्म का भागी नहीं होता है। छिद्र वाला पात्र जल धारण नहीं कर सकता।

१०५. दुःशीलस्य भयं लोके चाविश्वासोऽयशश्च वै।

अशान्तिः शाश्वती चास्य प्रेत्य दुःखं स भोक्ष्यति॥

बु, २३.२७

दुःशील प्राणी को संसार में भय, अविश्वास, अकीर्ति तथा अक्षय अशान्ति मिलती है और वह मरने पर भी दुःख भोगेगा।

१०६. स्वर्गमार्गस्य संकेतमिव शीलं समुज्ज्वलम्।
स्वयं गन्त्री दृढा स्वर्गगामिन्यपि तु नौरिव॥

बु, २३.२८

शील, स्वर्ग-मार्ग का दैदीप्यमान संकेत (मार्गप्रदर्शक) है तथा स्वयं चलने वाली, स्वर्ग जाने वाली दृढ़ नौका की तरह है।

१०७. दोषाभिभूतचित्तस्य शुभं सर्वं विनश्यति।
शीलेन दोषमाक्रम्य चित्तमादौ विशोधय॥

बु, २३.२९

दोष (काम-क्रोध आदि) से अभिभूत (व्याकुल) चित्त वाले मनुष्य का किया हुआ शुभ कर्म नष्ट हो जाता है। अतः सर्वप्रथम शील के द्वारा दोषों पर आक्रमण करके चित्त को शुद्ध करो।

१०८. द्रोहेण तेषु को लाभः शत्रुष्वाकारधारिषु।
ये स्वयं सहजैर्नित्यैर्पीडिता आमयादिभिः रोगादिभिः प्रपीडिताः॥

बु, २३.५२.

उन देहधारी शत्रुओं से द्रोह करने से क्या लाभ जो सहज और नित्य रोगादि से स्वयं पीड़ित हैं।

१०९. लक्ष्यं लभस्व निर्द्वन्द्वो मनो रक्षय तामसात्।

बु, २४.२२

निर्द्वन्द्व होकर लक्ष्य को प्राप्त करो और तम से मन की रक्षा करो।

११०. शीलमेव परं ज्ञानं शीलमेव परं तपः।
शीलमेव परो धर्मः शीलान्मोक्षश्च नैष्ठिकः॥

बु, २६.३४

शील ही परम ज्ञान है। शील ही परम मोक्ष है। शील ही परम धर्म है। शील से नैष्ठिक मोक्ष मिलता है।

१११. यष्टया रुन्धन्ति गा गोपा धान्यादिभ्यो यथा तथा।
षडिन्द्रियाणि शीलेन विषयेभ्यो निवारय॥

बु, २६.३५

जिस तरह गोप डण्डे द्वारा गायों को धान्य आदि (खाने) से रोकता है, उसी तरह शील के द्वारा छः इन्द्रियों को विषयों से रोको।

११२. निर्दिष्टोऽपि हि सन्मार्गे पान्यो गच्छन् कदध्वनि।
विनश्येच्चेत्तु निर्देष्टुर्न दोषो नाधमर्णता॥

बु, २६.७७

सही मार्ग बता देने पर भी, पथिक यदि खराब मार्ग पर जाते हुए नष्ट हो जावे तो मार्ग बताने वाले का कोई दोष नहीं और न (वह) कर्जदार है।

११३. वराकाः पादसंक्रान्ताः कीटाश्चापि दशन्यलम्।

बु., २८.२०

पैर से ठोकर खाकर छोटा कीड़ा भी अत्यन्त काटता है।

११४. न सुखं न च वै धर्मो जायते कलहात् क्वचित्।

बु., २८.४५

कलह से न तो सुख मिलता है और न ही धर्म ही होता है।

११५. दुष्करं साध्वनार्येण मानिना चैव मार्दवं।

अतिसर्गश्च लुब्धेन ब्रह्मचर्यं च राणिना॥

सौ., ११.१३

अनार्य पुरुष के द्वारा अच्छा कार्य दुष्कर है, अभिमानी व्यक्ति के द्वारा कोमल व्यवहार, लोभी से दान और रागी पुरुष से ब्रह्मचर्य का निर्वाह दुष्कर है।

११६. शीलमास्थाय वर्तन्ते सर्वा हि श्रेयसि क्रियाः।

सौ., १३.२१

संसार के सभी कल्याणकारी कार्य शील के द्वारा सम्पन्न होते हैं।

११७. अहल्लेखस्य मनसः शीलं तूषनिषच्छुचि।

सौ., १३.२६

मन की पीड़ा के अभाव का आधार पवित्र शील है।

११८. शीलनाच्छीलमित्युक्तं शीलनं सेवनादपि।

सेवनं तन्निदेशाच्च निदेशश्च तदाश्रयात्॥

सौ., १३.२७

शीलन के कारण इसका नाम शील है। शीलन सेवन के द्वारा भी होता है। सेवन उस वस्तु की इच्छा से होता है और इच्छा आश्रय से होती है।

११९. शीलं हि शरणं सौम्य कान्तार इव दैशिकः।

मित्रं बन्धुश्च रक्षा च धनं च बलमेव च॥

सौ., १३.२८

हे सौम्य! शील ही शरण है। इस संसाररूपी जंगल में शील के समान दूसरा कोई मार्ग दर्शक, बन्धु, रक्षक, धर्म और बल नहीं है अर्थात् यही सब कुछ है।

१२०. क्लेशांकुरान् प्रतनोति शीलम्।

सौ., १६.३४

शील के द्वारा क्लेशों के अंकुर नहीं पनप सकते हैं।

१२१. कुलेन किं शीलविवर्जितेन।

व., ३०

शीलरहित कुल का क्या प्रयोजन है? अर्थात् वह निरर्थक है।

१२२. एकोरथश्च भुवि यद्विदधाति वर्त्म तेनापरो व्रजति धृष्टतरं तथा न्यः॥

जामा, ५.२६

पहला रथ धरती पर जिस रास्ते को बनाता है उसी (रास्ते) से दूसरा रथ जाता है और अन्य (तीसरा रथ) तो और भी बेधड़क जाता है।

१२३. यशःसपत्नैरपि कर्मभिर्जनः समृद्धिमन्विच्छति नीचदारुणैः।

स्वसौख्यसङ्गादनवेक्षितात्ययः प्रतार्यमाणश्चपलेन चेतसा।

जामा, ५.२८

अपने सुख के लोभ में मनुष्य अनर्थ की उपेक्षा करता है। (अनर्थ से डरता नहीं है) और चञ्चल चित्त से प्रेरित होकर ऐसे कर्मों को करके समृद्धि प्राप्त करना चाहता है जो कर्म नीच, भयंकर और उसके यश के शत्रु हैं।

१२४. उपकाराशया भक्त्या शक्त्या चैव समस्तया।

प्रयुक्तस्यातिदुःखो हि प्रणयस्याप्रतिग्रहः॥

जामा, ७.३३

उपकार करने के विचार से यदि कोई अपनी भक्ति और शक्ति के अनुसार कुछ प्रेम प्रकट करे और उसे स्वीकार न किया जाय तो (प्रार्थना करने वाले को) अत्यन्त कष्ट होता है।

१२५. आलोको भवति यतः समश्च मार्गो लोकोऽयं व्रजति ततो न दुर्गमेण।

जामा, ९.५३

जो मार्ग समतल और प्रकाशित होता है उस पर लोग कठिनाई से नहीं अर्थात् सरलता से चलते हैं।

१२६. स्याच्छीलेऽपि च लोकपंकत्यभिमुखः स्वर्गे च जातस्पृहः।

जामा, १०.३५

समाज की पंक्ति में बैठने अर्थात् सामाजिक प्रतिष्ठा पाने तथा स्वर्ग—प्राप्ति की लालसा से लोग शील (संदाचार) का पालन करते हैं।

१२७. न कल्याणाशयाः पापप्रतारणामनुधीयन्त।

जामा, पृ. १४५.

(सब के प्रति) कल्याण का भाव रखने वाले कभी—भी पाप कर्म नहीं करते हैं।

१२८. जिह्मं शुभं वा वृषभप्रचारं गावोऽनुगा यद्वदनुप्रयान्ति।
उत्क्षिप्तशङ्काङ्कुशनिर्विषट्ठं प्रजास्तथैव क्षितिपस्य वृत्तिम्॥

जामा, १३.३९

साँड़ सीधा चले या टेढ़ा अर्थात् सन्मार्ग पर चले या असन्मार्ग पर किन्तु उसका अनुगमन करने वाली गाएँ उसके पीछे-पीछे चलती हैं। उसी प्रकार प्रजाएँ भी शंका-रहित होकर स्थिर मन से राजा के व्यवहार का ही अनुसरण करती हैं।

१२९. प्रधानभूतस्य विचेष्टितानि जनोऽनुकर्तुं नियतस्वभावः।

जामा, १७.४

प्रधान (मनुष्य) के कार्य (व्यवहार) का अनुसरण करना मनुष्य का निश्चित स्वभाव है।

१३०. गुणसंवर्णनं नाम दोषाणां च निगूहनम्।
प्रसिद्ध इति लोकस्य पण्यानां विक्रयक्रमः॥

जामा, १७.९

गुणों का वर्णन करना और दोषों को छिपाना—यही संसार में सामान बेचने की प्रसिद्ध पद्धति है।

१३१. सम्पूजनीयस्तु हितस्य वक्ता वाक्प्रग्रहेण प्रतिपन्मयेन।

जामा, १७.३२

वचन को आचरण के रूप में उतार कर कल्याण की बात कहने वाले का सम्मान करना चाहिये।

१३२. विनिपातगतानामपि सतां वृत्तं नालमनुगन्तुमसत्पुरुषाः, प्रागेव सुगतिस्थानाम्।

जामा, पृ. २६७.

दुर्जन पुरुष दुर्गति में पड़े हुए सज्जनों के व्यवहार का अनुकरण भी नहीं कर सकते हैं तो सुगति में स्थित सज्जनों का कैसे करेंगे?

१३३. न हि स्वजन इत्येव स्वजनो बहु मन्यते।
जनो वा जन इत्येव स्वजनाद् दृश्यतेऽन्यथा॥

जामा, १८.१

कोई स्वजन व्यक्ति (स्वजन) मात्र है इस कारण से आदर का पात्र नहीं बन जाता है और न ही (कोई व्यक्ति) पराया है (स्वजन नहीं है) इसलिए उसे स्वजन से भिन्न अर्थात् पराया नहीं समझा जाता।

१३४. स्वेच्छाविकल्पग्रथिताश्च तास्ता निरङ्कुशा लोककथा भ्रमन्ति।

जामा, २०.१७

अपनी-अपनी इच्छानुसार गढ़ी हुई लोक-कथाओं का प्रचार बिना नियन्त्रण के होता है।

१३५. वणिजोऽपि हि कुर्वन्ति लाभसिद्ध्याशया व्ययम्।

जामा, २२.२०

बनिये भी लाभ की आशा से व्यय करते हैं।

१३६. स्वगुणातिशयोदितैर्यशोभिर्जगदावर्जनदृष्टशक्तियोगः।

रचनागुणमात्रसत्कृतेषु ज्वलयत्येव परेष्वमर्षवह्निम्।

जामा, २३.४

(यद्यपि एक ओर) मनुष्य अपने विशेष सद्गुणों से प्राप्त होने वाले यश से संसार को वश में करने की शक्ति देखता है फिर भी (दूसरी ओर) वह उन कार्यों (पुरुषार्थियों) के प्रति अपने मन में द्वेष की अग्नि जलाता ही है जो अपने कार्य-कौशल के बल पर (समाज में) सम्मान अर्पित करते हैं।

१३७. पैशुन्यवज्जाशानिसन्निपाते भीमस्वने चाशानिसन्निपाते।

विस्मम्भवान्मानुषमात्रधैर्यः यान्निर्विकारो यदि नाम कश्चित्॥

जामा, २३.५

चुगलखोरीरूपी वज्र के गिरने से और भयंकर शब्दरूपी वज्र के गिरने से, ऐसा कौन व्यक्ति है जो निर्विकार (अप्रभावित) रहे, जिसका विश्वास और मानवोचित धैर्य बना रहे।

१३८. स्ववादघ्नेन वचसा यः परान् विजिगृप्सते।

स खल्व्वात्मवधेनेव परस्याकीर्तिमिच्छति।

जामा, २३.२३

अपने सिद्धान्त की हत्या करने वाले वचन के द्वारा जो दूसरों की निन्दा करता है वह अवश्य ही मानो आत्महत्या के द्वारा दूसरे का अपयश चाहता है।

१३८. रूपविज्ञानसंपत्तिः क्रियासौष्टवसंस्कृता।

स्वहितान्वेषिणि जने कुत्र नाम न पूज्यते॥

जामा, २६.१

सत्कर्म से (उत्तम) रूप और ज्ञान की सम्पत्ति प्राप्त होती है। अतः अपना कल्याण चाहने वाला मनुष्य उस (सत्कर्म) का आदर क्यों नहीं करेगा अर्थात् अवश्य करेगा।

१४०. सत्य एवं प्रवादोऽयमुदकौघगत किलम्।

दावैव वरमुद्धर्तुं नाकृतज्ञमतिं जनम्॥

जामा, २६.२४

यह बात सत्य है कि जलधारा में पड़े हुए लकड़ी के टुकड़े को निकालना अच्छा (सरल) है किन्तु कृतघ्न बुद्धि वाले मनुष्य को नहीं।

१४१. अगर्हितां जातिमवाप्य मानुषीमनूनभावं पटुभिस्तथेन्द्रियैः।
अवश्यमृत्युर्न करोति यः शुभं प्रमादभाक् प्रत्यहमेष वञ्च्यते॥

जामा, २८.१५

पवित्र मनुष्य—जन्म पाकर और सबल इन्द्रियों (शरीर) से सम्पन्न होकर (भी) जो असावधान और मरणशील प्राणी प्रतिदिन (कोई) शुभकर्म नहीं करता है वह (स्वयं से ही) ठगा जाता है।

१४२. द्विषतामपि मानसान्यावर्जयन्ति सद्वृत्तानुवर्तिनः।

जामा, पृ. ३५७

सदाचार का अनुसरण करने वाले प्राणी शत्रुओं के हृदयों को भी जीत लेते हैं।

१४३. अभ्याससिद्धिर्हि पदूकरोति शिक्षागणं कर्मसु तेषु तेषु॥

जामा, २९.१३

अभ्यास से प्राप्त होने वाला कौशल उन-उन कार्यों के करने की कला को और निखार देता है।

१४४. दयामदुषु दुर्जनः पटुतरावलेपोद्भवः
परां व्रजन्ति विक्रियां न हि भयं ततः पश्यति।
यतस्तु भयशङ्कया सुकृशयापि संस्पृश्यते
विनीत इव नीचकैश्चरति तत्र शान्तोद्भवः॥

जामा, ३३.४

दुर्जन पुरुष उद्धत और उत्तेजित होकर दयावान् मनुष्यों के प्रति बड़ी दुष्टता करता है क्योंकि वह उनसे किसी प्रकार का भय नहीं देखता है। किन्तु जिस व्यक्ति से भय की क्षीण आशंका से भी ग्रस्त होता है उसके प्रति वह शान्त होकर विनीत (शिष्य) के समान विनम्र आचरण करता है।

१४५. शिलातले बीजमिव प्रकीर्णं हुतं च शान्तोष्मणि भस्मपुञ्जे।
समप्रकारं फलयोगकाले कृतं कृतघ्ने विदुले च पुण्यम्॥

जामा, ३४.११

जिस प्रकार चट्टान पर बोया गया बीज और गर्मी-रहित (ठण्डी) राख के ढेर में डाली गई आहुति निष्फल होती है उसी प्रकार विदुल (बेंत) का फूल और कृतघ्न के प्रति किया गया उपकार फल-काल में व्यर्थ होता है।

१४६. न वेत्ति चेदुपकृतमातुरः परो न योक्ष्यतेऽपि स गुणकान्तया श्रिया।

जामा, ३४.२१

यदि कोई अस्थिर चित्त प्राणी उपकार को नहीं मानता है तो वह गुणों की शोभा को कभी प्राप्त नहीं करेगा।

१४७. यस्मिन् साधूपचीर्णेऽपि मित्रधर्मो न लक्ष्यते।
अनिष्ठुरमसरब्धमपयायाच्छनैस्ततः॥

जामा, ३४.२२

उपकार करने पर भी यदि किसी में मित्र का धर्म नहीं पाया जाय तो क्रोध किए बिना विनम्रता (और मधुरता) से धीरे-धीरे उससे हट जाएँ (अपने मन को उस ओर से हटा लें)।

१४८. यक्षराक्षसानां पिशाचानां वा निसर्गरौद्रा प्रकृतिः।

जामा, पृ० ९४

यक्षों, राक्षसों और पिशाचों की प्रकृति स्वभाव से ही भयंकर होती है।

१४९. अभिप्रायसंपादनात्पूजा कृता भवति न गन्धमाल्याद्यभिहारेण।

जामा, पृ. ४२१

(जिस उद्देश्य से त्याग किया गया है उस) प्रयोजन को पूरा करने से ही (उस त्यागी का) सम्मान होता है न कि सुगन्धित पदार्थों और मालाओं के उपहारों से (वास्तविक सम्मान होता है)।

१५०. आत्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेलां लङ्घयन्ति।

जामा, पृ. १६५, १७२

आत्म-संकोच के कारण ही सज्जन सदाचार की सीमा का उल्लंघन नहीं करते हैं।

आडम्बर

१५१. छदनं कत्वान सुब्बतानं पक्खन्दि कुलदूसको पगम्भो।

मायावी असञ्जतो पालापो, पतिरूपेण चरं स मग्गदूसी॥

सुनि, १.५.७

जो अच्छे व्रतधारियों का वेष धारण कर पाखण्डी, कुलदूषक, ढोंगी, मायावी, असंयमी और बकवादी होकर भिक्षुओं के वेष में विचरण करता है— वह मार्गदूषी है।

१५२. न ह्यन्यचित्तस्य चलेन्द्रियस्य लिङ्गं क्षमं धर्मपथाच्चयुतस्य।

सौ., ७.४७

जिसका चित्त अन्यत्र है, इन्द्रियाँ चञ्चल हैं और धर्म-पथ से पतित है— उसका धार्मिक वेश आदि का चिह्न क्षमा के योग्य नहीं है।

१५३. पाणौ कपालमवधाय विधाय मौण्ड्यं मानं निधाय विकृतं परिधाय वासः।
यस्योद्भवो न धृतिरस्ति न शान्तिरस्ति चित्रप्रदीप इव सोऽस्ति च नास्ति चैव॥

सौ., ७.४८

दोनों हाथों में कपाल को लेकर, मुण्डन कराकर, स्वाभिमान का परित्याग करके और विकृत वस्त्र धारण करके जो चञ्चल, धैर्य-रहित हो गया है तथा जिसमें शान्ति नहीं है वह चित्र में उल्लिखित दीपक के समान (धार्मिक) है अर्थात् वास्तव में धार्मिक नहीं है।

१५४. यो निःसृतश्च न च निःसृतकामरागः काषायमुद्ब्रहति यो न च निष्कषायः।
पात्रं विभर्ति च गुणैर्न च पात्रभूतो लिङ्गं वहन्नपि स नैव गृही न भिक्षुः॥

सौ., ७.४९

जो व्यक्ति घर से तो निकल गया है किन्तु जिसका काम के प्रति राग-भाव नहीं निकला है, जो काषाय वस्त्रों को तो धारण करता है किन्तु जिसका मन कषाय-रहित नहीं है तथा जो भिक्षा के पात्र को धारण करते हुए भी गुणों को धारण करने का पात्र नहीं है वह भिक्षु, भिक्षु के चिह्न को धारण करते हुए भी न गृहस्थ है, न भिक्षु।

१५५. पूज्यं लिङ्गं हि स्वलितमनसो विभ्रतः।
क्लिष्टबुद्धेर्नामुत्रार्थः स्यादुपहतमतेर्नाप्ययं जीवलोकः॥

सौ., ७.५२

जो व्यक्ति चञ्चल मन से धार्मिक अथवा भिक्षु का वेश धारण करता है ऐसे पाप-बुद्धि वाले व्यक्ति का न इहलोक सिद्ध होगा और न परलोक।

१५६. कृतकमधुरोपचारवचनप्रच्छन्नतीक्ष्णदौरात्म्यानि च प्रायेण पेलवधृणानि
शठानि मानुषहृदयानि।

जामा, पृ. २७४

मनुष्यों के हृदय प्रायः दुष्ट और छलपूर्वक दयाभाव से भरे होते हैं। उनके कृत्रिम उपायों और मधुर वचनों के भीतर कठोर दुष्टता छिपी रहती है।

१५७. असंयताः संयतवेषधारिणश्चरन्ति कामं भुवि भिक्षुराक्षसाः।

जामा, २३.६०, पृ. ३१४

असंयमी मनुष्य संयमी का वेश धारण करके इस पृथ्वी पर विचरण करते हैं जो भिक्षु-रूपधारी राक्षस हैं।

आमगन्ध

१५८. पाणातिपातोवधछेदबन्धनं, थेय्यमुसावादो निकतिवञ्चनानि च ।
अञ्जेनकुत्तं परदारसेवना, एसामगन्धो न हि मंसभोजनं ॥

सुनि, २.२.४

जीव-हिंसा, वध, बन्धन, चोरी, असत्य-भाषण, धोखेबाजी, ठगी, निरर्थक ग्रन्थों का अध्ययन तथा पराई स्त्री का सेवन- यह आमगन्ध (बुराई) है न कि मांस का भोजन करना ।

१५९. ये इध कामेसु असञ्जता जना, रसेसु गिद्धा असुचीकमिस्सिता ।
नत्थीकदिट्ठि विसमा दुरन्नाया, एसामगन्धो न हि मंसभोजनं ॥

सुनि, २.२.५

जो लोग यहाँ नाना कामभोगों में संयम नहीं करते, स्वादिष्ट रसों में लिप्त रहते हैं, नाना प्रकार के पाप-कर्मों में लगे रहते हैं, विषम और टेढ़ी नास्तिक दृष्टि वाले हैं यह आमगन्ध है, न कि मांस का भोजन करना ।

१६०. ये लूखसा दारुणा पिट्ठिमंसिका, मित्तदुदुनो निक्करुणातिमानिनो ।
अदानसीला न च देति कस्सचि, एसामगन्धो न हि मंसभोजनं ॥

सुनि, २.२.६

जो कठोर, दारुण, चुगलखोर, मित्रद्रोही, निर्दयी, अतिमानी, दान न देने के स्वभाव वाला है और किसी को कुछ नहीं देता है यह आमगन्ध है न कि मांस का भोजन करना ।

१६१. कोधो मदो थम्भो पच्चुट्ठापना च, माया उसूया भस्ससमुस्सयो च ।
मानाति मानो च असब्भिसन्थवो, एसामगन्धो न हि मंसभोजनं ॥

सुनि, २.२.७

क्रोध, मद, जड़ता, विरोध, माया, ईर्ष्या, आत्मप्रशंसा, बहुत अभिमानी होना और बुरे लोगों का साथ करना- यह आमगन्ध है न कि मांस का भोजन करना ।

१६२. ये पापसीला इण्णवातसूचका, वोहारकूटा इध पाटिरूपिका ।
नराधमा ये' ध करोन्ति किब्बिसं, एसामगन्धो न हि मंसभोजनं ॥

सुनि, २.२.८

जो पापी, ऋण न चुकाने वाले, ठगी करने वाले, ढोंगी, नराधम यहाँ पाप कर्म करते हैं- यह आमगन्ध है न कि मांस का भोजन करना ।

१६३. ये इध पाणेसु असज्जता जना, परेसमादाय विहेसमुय्युता।
दुस्सीललुद्धा फरुसा अनादरा, एसामगन्धो न हि मंसभोजनं॥

सुनि, २.२.९

जो लोग यहाँ जीवों के प्रति असंयमी हैं, दूसरों की वस्तु लेकर उन्हें परेशान करने पर तुले हुए हैं और दुराचारी, लोभी, कठोर तथा आदरहीन हैं— यह आमगन्ध है न कि मांस का भोजन करना।

आरोग्य

१६४. आरोग्य परमा लाभा। (पा.)
आरोग्यं परमो लाभः। (सं.)

धप, २०४

आरोग्य परम लाभ है।

१६५. आरोग्य धिग् विविधव्याधिपराहेतेन।

लवि, १४.५५५

(उस) आरोग्य को धिक्कार है (जिसे) नाना प्रकार की व्याधियाँ कुचल डालती हैं।

१६६. वाताधिकाराः प्रभवन्ति वर्षे पित्तप्रकोपः शरदि प्रसन्ने।
हेमन्तकाले तथ सन्निपातं कफाधिकाराश्च भवन्ति ग्रीष्मे॥

सुप्रसू, १७.९

वर्षा ऋतु में वात (वायु विकार) बढ़ने से रोग उत्पन्न होते हैं, शरद् ऋतु में पित्त-विकार उत्पन्न होता है, उसी प्रकार हेमन्त ऋतु में मिश्रित विकार उत्पन्न होते हैं और ग्रीष्म ऋतु में कफ बढ़ने से विकार उत्पन्न होते हैं।

१६७. स्निग्धोष्णलवणाम्लरसाश्च वर्षे, शरत्सु स्निग्धं मधुरं च शीतम्।
मधुराम्लस्निग्धं च हेमन्तकाले रुक्षोष्णकटुकानि च ग्रीष्मकाले॥

सुप्रसू, १७.१०

वर्षा ऋतु में वसा (चिकनाई युक्त), गर्म, नमकीन तथा अम्ल रुचियाँ होती हैं, शरद् ऋतु में वसा युक्त मीठी तथा ठंडी रुचियाँ होती हैं, हेमन्त में मीठी, अम्ल तथा वसा-युक्त रुचियाँ होती हैं तथा ग्रीष्म ऋतु में कठोर, गर्म तथा कटु रुचियाँ होती हैं।

१६८. कफाधिकः कुप्यति भुक्तमात्रे पित्ताधिकं कुप्यति जीर्यमाणे।

वाताधिकः कुप्यति जीर्णमात्रे इत्येव धातुत्रितयप्रकोपः॥

सुप्रसू., १७.११

भोजन के अनन्तर कफ का आधिक्य बाहर आ जाता है, पाचन के समय पित्त बढ़ जाता है, पाचन के अनन्तर वात-विकार उत्पन्न होता है, इस प्रकार तीन धातुएँ (वात-पित्त-कफ) ही विकार उत्पन्न करती हैं।

१६९. संबृहणं कुर्वतु निरात्मकस्य विरेचनं पित्तविवर्धनं च।

त्रिगुणोपपन्नं तथ सन्निपाते, प्रशमं च कुर्यात्कफपर्वमन्तरे॥

सुप्रसू., १७.१२

वात-विकार में बलवर्द्धक औषधि देनी चाहिये, पित्त-विकार को दूर करने के लिए रेचन देना चाहिये, मिश्रित विकार को दूर करने के लिए तीन गुणों से युक्त कुछ (आयुर्वेद के द्वारा निर्दिष्ट) देना चाहिये तथा कफ-विकार को शान्त करने के लिए वमन औषधि देनी चाहिये।

१७०. वाताधिकं पैत्तिकसन्निपाते कफाधिकं पर्वसु जानितव्यम्।

यत्काल यद्धातु यदाश्रयं च तदन्नपानौषधि दर्शितव्यमिति॥

सुप्रसू., १७.१३

वात के आधिक्य, पित्त के सन्निपात तथा कफ के आधिक्य को महीनों के अनुसार जानना चाहिये तथा ऋतु, धातु तथा व्यक्ति के अनुसार खान-पान तथा औषधि निश्चित करनी चाहिये।

१७१. औषधस्य प्रदातैव वैद्यो ज्ञातबलाबलः।

संयमेन च काले च वशे पानं तु रोगिणाम्॥

बु., २६.७६

वैद्य रोगी का बलाबल विचार कर केवल औषधि का प्रदाता होता है, उस औषधि को संयम से तथा समय पर खाना रोगी के अधिकार की बात है।

१७२. व्याधेः समो नास्ति जगत्पनर्थः।

सौ., ५.२७

रोग के समान संसार में कोई अनर्थ नहीं है।

१७३. विनिगुह्य हि रोगमातुरो नचिरात्तीवमनर्थमृच्छति।

सौ., ८.४

रोग को (वैद्य से) छिपाने वाला रोगी व्यक्ति शीघ्र ही घोर अनर्थ को प्राप्त करता है।

१७४. मनसो हि रजस्तमस्विनो भिषजोऽध्यात्मविदः परीक्षकाः।

सौ., ८.५

रजो गुण और तमो गुण से युक्त चित्त के लिए चिकित्सक हैं और अध्यात्म को जानने वाले परीक्षक अथवा दार्शनिक होते हैं।

आर्य

१७५. अहिंसा सब्बपाणानं अरियो ति पवुच्चति। (पा.)

अहिंसा सर्वप्राणानाम् आर्य इति प्रोच्यते। (सं.)

धप, १९.२७०

सब प्राणियों के प्रति अहिंसा का व्यवहार करने से ही (व्यक्ति) आर्य कहा जाता है।

१७६. सर्वेण शोभते आर्यो यस्य पापं न विद्यते।

लवि, १२.३७६

जिसमें पाप नहीं है, वह आर्य पुरुष सब (अवस्थाओं) में शोभा देता है।

१७७. दृष्ट्वा च संसारमये महौघे मग्नं जगत्पारमविन्दमानम्।

यश्चेदमुत्तारयितुं प्रवृत्तः कश्चिन्तयेत्तस्य तु पापमार्यः॥

बु, १३.६४

संसाररूप महा बाढ़ (प्रवाह) में डूबे हुए जगत् को पार न पाता हुआ देखकर, जो उसके उद्धार करने में प्रवृत्त हो, उसके प्रति पाप-कर्म करने का विचार कौन आर्य पुरुष करेगा।

१७८. आर्यस्यारम्भमहतो धर्मार्थाविव भूतये।

सौ., २.६१

आर्य प्राणियों के लिए धर्म और अर्थ श्रेष्ठ आरम्भ हैं।

आसक्ति

१७९. नहि सो नन्दति यो निरूपधि।

सुनि, १.२१६

जो विषयभोग से रहित है वह आनन्दित भी नहीं होता है।

१८०. नहि सो सोचति यो निरूपधीति।

सुनि, १.२१७

जो विषय-भोग से रहित है वह कभी शोक नहीं करता है।

१८१. कामा हि चित्रा मधुरा मनोरमा,
विरूपरूपेन मथेति चित्तम्।

सुनि, १.३.१६
कामभोग विचित्र, मधुर और मनोरम होते हैं। वे नाना प्रकार से चित्त को विचलित करते हैं।

१८२. उपयो हि धम्मेसु उपेति वादं।

सुनि, ४.३.८
आसक्ति—युक्त व्यक्ति ही धर्म—सम्बन्धी विवादों में पड़ता है।

१८३. सञ्जाविरतस्स न सन्ति गन्था।

सुनि, ४.९.१३
काम—भोगों से विमुक्त मनुष्य के लिए बन्धन नहीं है।

१८४. पुञ्जाविमुत्तस्स न सन्ति मोहा।

सुनि, ४.९.१३
प्रज्ञा द्वारा विमुक्त मनुष्य के लिए मोह नहीं है।

१८५. वीततण्हो पुरा भेदा (ति भगवा), पुब्बमन्तमनिस्सितो।
वेमज्जे नूपसङ्खेय्यो, तस्स नत्थि पुरेक्खतं॥

सुनि, ४.१०.२
जो शरीर—त्याग के पूर्व ही तृष्णा—रहित हो गया है और जो भूत तथा भविष्य पर आश्रित नहीं है, उसके लिए कहीं आसक्ति नहीं है।

१८६. सातं असातन्ति यमाहु लोके, तमूपनिस्साय पほति छन्दो।

सुनि, ४.११.६
संसार में जो प्रिय और अप्रिय वस्तु हैं, उन्हीं के कारण इच्छा होती है।

१८७. इच्छानिदानानि परिग्गहानि।

सुनि, ४.११.११
इच्छा के कारण परिग्रह होते हैं।

१८८. निविस्सवादी न हि सुद्धिनायो।

सुनि, ४.१३.१६
जो किसी बात में आसक्त है वह शुद्धि को प्राप्त नहीं होता।

१८९. यं यं हि लोकस्मिं उपादियन्ति, तेनेव मारो अन्वेति जन्तुं।

सुनि, ५.१३.३
संसार में लोग जो—जो अपनाते हैं, (अर्थात् जिस जिसको आत्मीय बनाते हैं) उसी के कारण मार मनुष्य के पीछे पड़ जाता है।

१९०. नन्दी संयोजनो लोको।

सुनि, ५.१४.५

लोक का बन्धन राग है।

१९१. तं वे पसहति मारो, वातो रुक्खं व दुब्बलं। (पा.)

तं वै प्रसहते मारो वातो वृक्षमिव दुर्बलम्। (सं.)

धप, ७

मार दुर्बल को उसी प्रकार झकझोर देता है, जैसे वायु दुर्बल वृक्ष को।

१९२. न कहापणवरसेन, तित्ति कामेसु विज्जति। (पा.)

न कार्षापणवर्षेण तृप्तिः कामेषु विद्यते। (सं.)

धप, १८६

कार्षापणों की वर्षा से भी भोगों में तृप्ति नहीं होती।

१९३. अप्पसादा दुखा कामा। (पा.)

अल्पस्वादाः दुःखाः कामा। (सं.)

धप, १८६

सभी भोग थोड़े स्वाद वाले एवं दुःखद हैं।

१९४. नत्थि रागसमो अग्नि। (पा.)

नास्ति रागसमोऽग्निः। (सं.)

धप, २०२

राग (आसक्ति) के समान अग्नि नहीं है।

१९५. जिघच्छा परमा रोगा। (पा.)

जिघत्सा परमो रोगः। (सं.)

धप, २०३

इच्छा सबसे बड़ा रोग है।

१९६. रतिया जायति सोको, रतिया जायती भयं। (पा.)

रत्याः जायते शोकः रत्याः जातये भयम्। (सं.)

धप, २१४

रति (राग) से शोक उत्पन्न होता है, रति से भय उत्पन्न होता है।

१९७. कामतो जायति सोको, कामतो जायति भयं। (पा.)

कामतो जायते शोकः कामतो जायते भयम्। (सं.)

धप, २१५

काम (इच्छा) से शोक उत्पन्न होता है, काम से भय उत्पन्न होता है।

१९८. नामरुस्मिं असज्जमानं, अकिञ्चन नानुपतन्ति दुक्खा। (पा)
 नामरूपयोरसज्जमानम् अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुःखानि॥ (सं.)

धप, २२१

नाम और रूप में अनासक्त अकिञ्चन पर दुःख नहीं आते।

१९९. नत्थि मोह समं जालं। (पा.)
 नास्ति मोहसमं जालम्। (सं.)

धप, २५१

मोह के समान जाल नहीं है।

२००. वनं छिदथ मा रुक्खं, वनतो जायते भयं। (पा.)
 वनं छिन्धि मा वृक्षं वनतो जायते भयम्। (सं.)

धप, २८३

(वासनाओं) के वन को काटो, वृक्ष को नहीं क्योंकि वन (लिप्सा) से भय उत्पन्न होता है।

२०१. सब्बरतिं धम्मरतिं जिनाति। (पा.)
 सर्वरतिं धर्मरतिर्जयति। (सं.)

धप, ३५४

धर्म की अनुरक्ति सभी रागों को जीत लेती है।

२०२. कल्पसहस्रं रमित्वा तृप्तिर्नास्त्यम्भसीत समुद्रे।

लवि, २.९

कल्प सहस्रों तक (भोग—विलास में) रमकर, समुद्र के पानी (पीने) की भाँति तृप्ति नहीं होती है।

२०३. सर्वमनित्यं कामा अध्रुवं न च शाश्वता सुपिण कल्पाः।
 मायामरीचिसदृशा विद्युत्फेनोपमा चपलाः॥

लवि, ४.५८

सब काम अनित्य, अध्रुव (= न टिकने वाले), स्वप्न के समान निरन्तर न रहने वाले माया (= इन्द्रजाल) तथा मृग—मरीचिका जैसे (असत्), विद्युत् (= बिजली की चमक) तथा फेन के तुल्य चञ्चल होते हैं।

२०४. न च कामगुणरतीभिः तृप्तिर्लवणोदकं यथा पीत्वा।

लवि, ४.५९

काम के गुणों के प्रति आसक्ति रखने से, खारे पानी के पीने के समान, तृप्ति नहीं होती।

२०५. अनन्त कामदोषाः।

लवि, १२.३३९

काम-भोगों में अनन्त दोष होते हैं।

२०६. प्रियरूपवरै सह स्निग्धस्तैः शुभगन्धरसै वरस्पर्शसुखैः।

परिषक्तभू इदं कलिपाश जगत् मृगलुब्धकपाशि यथैव कपि॥

लवि, १३.४५६

श्रेष्ठ प्रिय रूपों स्नेहभरे शब्दों, शोभन ग्रन्थ रसों तथा उत्तम स्पर्श सुखों के साथ यह जगत् कलि के पाश में वैसे फँसा है जैसे वानर बहेलिए के पाश में फँसा होता है।

२०७. उदचन्द्रमसा इमि कामगुणाः प्रतिबिम्ब इवा गिरिघोष यथा।

प्रतिभास समा नटरङ्गसमाः तथा स्वप्नसमा विदितार्यजनैः।

लवि, १३.४६१

आर्य-जनों ने इन काम-गुणों को जल में (प्रतिफलित हुई) चन्द्रमा की परछाई के जैसा, पर्वत पर (सुनाई पड़ने वाली) प्रतिध्वनि के सदृश, (मृगतृष्णा आदि के) प्रतिभास के तुल्य तथा स्वप्न के समान (मिथ्या) जाना है।

२०८. क्षणिका वसिका इमि कामगुणाः तथ मायमरीचिसमा अलिकाः।

उदबुद्बुदफेनसमा वितथा परिकल्पसमुच्छ्रित बुद्ध बुधैः॥

लवि, १३.४६२

बुद्धिमानों ने इन काम-गुणों को क्षणिक, शून्य, माया एवं मृगतृष्णा के समान असत्य पानी के बुलबुले एवं फेन के समान तत्त्वहीन तथा परिकल्पना से उत्पन्न होने वाला कहा है।

२०९. न रज्यते पुरुषवरस्य मानसं।

लवि, १५.६४२

श्रेष्ठ पुरुष का मन (राग में) नहीं रंगता।

२१०. न लिप्यते विषयसुखेषु निर्मलो।

लवि, १५.६४२

निर्मल (पुरुष) विषय सुखों में (रहता हुआ भी विषय-सुखों से) लिप्त नहीं होता है।

२११. कामां सेवयतो विवर्धते पुन तृष्णा।

लवि, २१.१०३६

कामभोगी की तृष्णा और भी बढ़ती है।

२१२. काम विवाद वैर कलहा सरण भयकरा।

लवि, २१.१०.४९

काम विवाद (रूपी) है, वैर (रूपी है), कलह (रूपी) है, सरण है— अर्थात् क्लेश से युक्त है, भयकारक है।

२१३. भावज्ञानेन हावेन रूपचातुर्यसम्पदा।

स्त्रीणामेव च शक्ताः स्थ संरागे किं पुनर्नृणाम्॥

बु, ४.१२

स्त्रियों के ही भाव (अभिप्राय) से, हाव (अभिनय) से, रूप और कला के वैभव से सारा विश्व राग में आसक्त है, मनुष्यों की तो बात ही क्या है?

२१४. वसनाभरणैस्तु वञ्च्यमानः पुरुषः स्त्रीविषयेषु रागमेति।

बु, ५.६४

वस्त्राभूषण (कृत्रिम गुणों) से वञ्चित पुरुष, स्त्रियों के विषय में राग करता है।

२१५. शोकहेतुषु कामेषु सक्ताः शोच्यास्तु रागिणः।

बु, ६.१८

शोक के कारणभूत विषयों में आसक्त रागी पुरुष अवश्य ही चिन्ता योग्य हैं।

२१६. ममत्वं न क्षमं तस्मात्स्वप्नभूते समागमे॥

बु, ६.४८

स्वप्नरूप समागम में ममता रखना उचित नहीं।

२१७. कामा ह्यनित्याः कुशलार्थचौरा रिक्ताश्च मायासदृशाश्च लोके।

आशास्यमाना अपि मोहयन्ति चित्तं नृणां किं पुनरात्मसंस्थाः॥

बु, ११.९

संसार में काम (विषय) अनित्य हैं, ज्ञानरूप धन के चोर हैं, खोखले हैं, माया—सदृश हैं एवं बाहर स्थित होने पर भी जब मनुष्यों के मन को मोह में डाल देते हैं (फिर) यदि अन्दर स्थित हों तो क्या कहना है?

२१८. कामाभिभूता हि न यान्ति शर्म त्रिविष्टपे किं बत मर्त्यलोके।

कामैः सतृष्णस्य हि नास्ति तृप्तिर्यथेन्धनैर्वातिसखस्य बह्वेः॥

बु, ११.१०

कामासक्त पुरुषों को मृत्यु—लोक में क्या, स्वर्ग से भी शान्ति नहीं मिलती है। विषय—तृषित व्यक्ति को विषयों से उसी प्रकार तृप्ति नहीं होती है जिस प्रकार पवन के साथ अग्नि को इन्धन से (तृप्ति नहीं होती है)।

२१९. लोकस्य कामैर्न वितृप्तिरस्ति पतद्भिरम्भोभिरिवार्णवस्य।

बु, ११.१२

प्राणी को काम (उपभोग) से तृप्ति नहीं होती जैसे (असंख्य नदियों के) गिरते हुए जल प्रवाह से समुद्र को।

२२०. आस्वादमल्पं विषयेषु मत्वा संयोजनोत्कर्षमतृप्तिमेव।

सद्भ्यश्च गह्रां नियतं च पापं कः कामसङ्गं विषमाददीत॥

बु, ११.१९

विषयों में स्वाद अल्प है, बन्धन अधिक है, तृप्ति बिल्कुल नहीं, सज्जनों द्वारा गर्हित है एवं पाप-नियत है— ऐसा समझ कर कौन काम नामक 'विष' को ग्रहण करेगा?

२२१. ज्ञेया विपत्कामिनि कामसंपत्।

बु, ११.२१

कामी पुरुष में कामरूप सम्पत्ति (भोग-सामग्री) को विपत्ति समझना चाहिये।

२२२. कामेषु विद्वानिह को रमेत॥

बु, ११.२२

यहाँ कामों में कौन विद्वान् रमेगा?

२२३. लोके तृणोल्कासदृशेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात्।

बु, ११.२३

संसार में तृणों और उल्का के समान कामों में, किस आत्मवान् को रति होगी?

२२४. क्रुद्धोऽग्रसर्पप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात्।

बु, ११.२४

कुपित व भयंकर सर्प—सदृश उन कामों में किस आत्मवेत्ता को प्रेम होगा?

२२५. अस्थि क्षुधार्ता इव सारमेया भुक्त्वापि यान्नैव भवन्ति तृप्ताः।

जीर्णास्थिकंकालसमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात्।

बु, ११.२५

जैसे भूखे कुत्ते हड्डी चबाकर तृप्त नहीं होते हैं, उसी प्रकार जिन (विषयों) को भोगकर भी (लोग) तृप्त नहीं होते— उन पुरानी हड्डी के कंकाल के समान विषयों में किस जितेन्द्रिय को राग उत्पन्न होगा?

२२६. तीव्रैः प्रयत्नैर्विविधैरवाप्ताः क्षणेन ये नाशमिह प्रयान्ति।
स्वप्नोपभोगप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात्॥

बु, ११.२९

जो विविध तीव्र प्रयत्न से प्राप्त होकर भी क्षण भर में यहीं नष्ट हो जाता है— स्वप्न के उपभोग के समान उन विषयों में किस आत्मवान् को आनन्द आएगा?

२२७. अनर्थं विषयाः फलन्ति।

बु, ११.३५

विषयों (के प्रति आसक्ति) का फल अनर्थकारी होता है।

२२८. सज्जते येन दुर्मेधा मनोवाग्बुद्धिकर्मभिः।
विषयेष्वनभिष्वङ्ग! सोऽभिष्वङ्ग इति स्मृतः॥

बु, १२.३१

हे सज्ज रहित! जिससे दुर्बुद्धि पुरुष, मन, वाणी, बुद्धि व कर्म के द्वारा विषयों में आसक्त (आबद्ध) होता है— उसे 'अभिष्वंग' स्मरण किया गया है।

२२९. यथा वायुयुतो वह्निकणोऽरण्ये प्रवर्धते।
तथा तृष्णायुतः कामः कर्मरण्ये विवर्धते॥

बु, १४.६१

जिस प्रकार वायु से युक्त होकर अग्नि का कण जंगल में फैल जाता है, उसी प्रकार तृष्णा से युक्त काम ही कर्मरूप जंगल में बढ़ जाता है।

२३०. कामात्मनां सदा चित्तं रागेण तमसावृतम्।
निरोधेनोपलभ्यं तन्न मार्गमधिगच्छति॥

बु, १५.३७

कामासक्त पुरुषों का चित्त सदा रज और तम से आक्रान्त रहता है। अतः निरोध से प्राप्त होने वाले सन्मार्ग में नहीं लगता है।

२३१. अपथ्यं सेवमानस्य रोगो नैव विनश्यति।
तथा भोगजुषोऽज्ञानरोगनाशः कुतो भवेत्॥

बु, १५.३८

अपथ्य सेवन करने वाले रोगी का रोग नहीं मिटता है। इसी तरह भोगासक्त मनुष्य का अज्ञानरूप रोग कैसे दूर हो सकता है?

२३२. वातेन्धनयुतो वह्निदीप्यते न तु शाम्यति।
कामरागाश्रितं चित्तं कथं शाम्यति रागिणाम्॥

बु, १५.३९

वायु और लकड़ी से संयुक्त अग्नि शान्त नहीं होती है। अपितु अधिक ही प्रज्वलित होती है, तब रोगी पुरुषों का काम और राग से संयुक्त चित्त कैसे निरुद्ध (शान्त) हो सकता है?

२३३. वासना जन्मनो बीजं दुःखं जन्मैव देहिनाम्।
अतो वासनया मुक्तः सर्वदुःखाद्विमुच्यते॥

बु, २०.५०

वासना ही जन्म का मूल कारण है और प्राणियों का जन्म लेना ही दुःख है। अतः वासना से मुक्त हुआ व्यक्ति सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

२३४. अरूपेषु सरूपेषु देवेष्वपि हि वासना।
विधत्तेऽतो पुनर्जन्मप्रवृत्तिर्न निवर्तते॥

बु, २०.५१

साकारों में, निराकारों में और यहाँ तक कि देवताओं में भी वासना होती है। इससे प्रवृत्ति का निवारण नहीं होता और इसीलिए बार-बार जन्म होता है।

२३५. येषां परिचितं चित्तं भोगोल्बणविषेण वै।
न च तत्पुनरभ्येति भोगं योगविनाशनम्॥

बु, २२.२७

जिन लोगों का मन, भोगों के प्रत्यक्ष विषय से परिचित है, उनको— योग का नाश करने वाले भोग— मोह में नहीं डाल सकते हैं।

२३६. विषयान्नेन्द्रियाण्येव विषया नेन्द्रियाणि च।
बध्नन्ति यस्तु विषयान् वान्छत्येव स सज्यः॥

बु, २२.३२

निश्चय ही न तो विषय इन्द्रियों को बाँधते हैं और न इन्द्रियाँ ही विषयों को बाँधती हैं। जो (व्यक्ति) विषयों की कामना करता है, वही उससे बाँध जाता है।

२३७. परस्परं प्रणद्धानि विषयाश्चेन्द्रियाणि च।

बु, २२.३३

विषय और इन्द्रियाँ आपस में एक दूसरे से बाँधे हुए हैं।

२३८. चक्षुः पश्यति रूपाणि चित्तं ध्यायति वै ततः।
ध्यानात्संजायते कामस्ततो निष्कामतापि च॥

बु, २२.३४

आँख रूप को देखती है और तब मन ध्यान करता है। इसी ध्यान से कामना की तथा निष्कामता की भी उत्पत्ति होती है।

२३९. कामरागात्मको मर्त्यः सुखं वाञ्छत्यहर्निशम्।
सुखार्थी कुत्सितं कर्म कृत्वा यात्यधमां गतिम्॥

बु, २२.४०

काम—राग से ग्रस्त मनुष्य दिन—रात सुख की खोज में रत रहता है और सुखार्थी कुत्सित कर्म करके अधम गति को पाता है।

२४०. सहजौ बलिनौ गुप्तौ कामरागौ हि वैरिणौ।
मित्रवेषेण संगम्य सर्वमर्माणि कृन्ततः॥

बु, २३.३६

काम और राग, स्वाभाविक एवं बलवान् तथा गुप्त शत्रु हैं। मित्र के वेष में मिलकर सब मर्मों को काट डालते हैं।

२४१. कामरागात्मको वह्निर्वह्निश्चापि समौ पुनः।
कामरागशिखादीप्तौ रात्रौ निद्रा न लभ्यते॥

बु, २३.३७

काम—रागरूप अग्नि तथा भौतिक अग्नि, दोनों समान हैं। काम—राग—रूप अग्नि की शिखा प्रज्वलित होने पर व्यक्ति को रात्रि में निद्रा नहीं आती है।

२४२. कामरागाग्निना तुल्यो नान्योग्निः शक्तिमान् यतः।
प्रशाम्यत्यम्भसा वह्निरयं तु सरसापि न॥

बु, २३.३८

काम—रागरूप अग्नि के समान दूसरी अग्नि उतनी शक्तिशाली नहीं है, क्योंकि साधारण अग्नि जल से शान्त हो जाती है किन्तु यह अग्नि सरोवर में डालने पर भी नहीं बुझती है।

२४३. कामरागाग्निदग्धे तु धर्मो हृदि न रोहति।

बु, २३.३९

काम—रागरूप अग्नि से दग्ध हृदय में फिर धर्म का प्रादुर्भाव नहीं होता।

२४४. कामाद्रागस्ततश्चेच्छा ह्यासक्तिश्च ततः पुनः।
आसक्त्या दुःखमायाति नास्ति कामसमो रिपुः॥

बु, २३.४१

काम से राग उत्पन्न होता है। राग से इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा से आसक्ति होती है तथा आसक्ति से दुःख प्राप्त होता है। अतः काम—सदृश दूसरा शत्रु नहीं है।

२४५. कामाख्यं हि महाव्याधिं नानुपश्यति मूढधीः।

बु, २३.४२

काम नामक महाव्याधि को मूर्ख लोग नहीं देख पाते।

२४६. कामं त्वनात्मकं दुःखमनित्यं मलिनं तथा।
परिज्ञाय बुधो पापात्तस्मात्कामान्निवर्तते॥

बु, २३.४३

विद्वान् काम को अनात्मा (निस्सार), दुःख, अनित्य तथा मलिन समझकर उस पाप—कर्म से निवृत्त हो जाता है।

२४७. भूतार्थविज्ञानादाशु चित्तं विरज्यते।

बु, २३.४४

भूतार्थ—विज्ञान से (वस्तु के तत्त्वतः ज्ञान से) चित्त शीघ्र रागरहित हो जाता है।

२४८. अस्थिचर्मवसामांसमलमूत्रमयं वपुः।
पूतिमत्पश्यतां लोके देहासक्तिर्न जायते।

बु, २४.२६

यह शरीर, अस्थि, चर्म, वसा, मांस, मल—मूत्रमय एवं दुर्गन्ध युक्त है ऐसा देखने वाले को संसार में देहासक्ति नहीं रह जाती है।

२४९. केवलं दुःखमत्रैव लभन्ते शत्रुभिदृढैः।
इहामुत्र च सर्वत्र भोगशत्रुवशाज्जनाः॥

बु, २६.३७

प्रबल शत्रुओं से केवल इसी लोक में दुःख प्राप्त होता है, किन्तु भोगरूप शत्रु के वश में होकर लोग इस लोक और परलोक दोनों में दुःख पाते हैं।

२५०. न वशमागच्छेदिन्द्रियाणां सदा वशी।
भोगिनो वशमायान्ति धातुकानां मृगा इव॥

बु, २६.३८

सभी को चाहिये कि सदा जितेन्द्रिय हों, कभी—भी इन्द्रियों के वश में न हों। भोगाभिलाषी उसी तरह इन्द्रियों के वश में होते हैं जिस प्रकार मृग, बहेलियों के पाश में पड़ जाते हैं।

२५१. सर्पसिंहाग्निशस्त्रेभ्यो विदुषां न तथा भयम्।
यथा विषयदग्धेभ्य इन्द्रियेभ्यः प्रजायते॥

बु., २६.३९

विद्वानों को सर्प, सिंह, अग्नि एवं शस्त्रों से इतना भय नहीं होता जितना कि विषयलिप्त इन्द्रियों से होता है।

२५२. आसक्तिर्दुःखवृक्षस्य मूलं तां तु परित्यजेत्।

बु., २६.६२

आसक्ति दुःखरूपी वृक्ष का मूल है। अतः उसका परित्याग कर देना चाहिये।

२५३. प्रायः कामाच्च लोभाच्च युध्यन्ते भुवि मानवाः।

बु., २८.२८

लोग प्रायः इस धरती पर इच्छा एवं लोभ से (प्रेरित होकर परस्पर) युद्ध करते हैं।

२५४. हव्यैरिवाग्ने पवनेरितस्य लोकस्य कामैर्न हि तृप्तिरस्ति।

सौ., ५.२३

जैसे वायु में अग्नि की हवि से तृप्ति नहीं होती है, वैसे ही लोक को कामभोग से तृप्ति नहीं होती।

२५५. रागाग्निना नास्ति समस्तथाग्निः।

सौ., ५.२८

राग के समान कोई अग्नि नहीं है।

२५६. यः सर्वतो वेश्मनि दह्यमाने शयीत मोहान्न ततो व्यपेयात्।
कालाग्निना व्याधिजराशिखेन लोके प्रदीप्ते स भवेत्प्रमत्तः॥

सौ., ५.४१

जो चारों ओर जलते हुए घर में मोह से सोया रहे और भागे नहीं, वह व्याधि और जरारूपी कालाग्नि की शिखा से जलते हुए संसार में प्रमादी रहेगा।

२५७. प्रियेष्वनित्येषु कुतोऽनुरोधः।

सौ., ५.४३

प्रिय किन्तु अनित्य वस्तुओं के प्रति आग्रह क्यों रखा जाये।

२५८. अघृणः खल्वधृतिश्च मन्मथः।

सौ., ८.५३

कामदेव घृणा और धैर्य से शून्य है।

२५९. यथा यथा कामसुखेषु वर्तते तथा तथेच्छा विषयेषु वर्धते।

सौ., ९.४३

जैसे-जैसे काम-सुखों में संलग्न होते हैं वैसे-वैसे विषयों की इच्छा बढ़ती जाती है।

२६०. न कामभोगा हि भवन्ति तृप्तये।

सौ., ९.४३

काम-भोगों से कभी तृप्ति नहीं होती है।

२६१. न कामभोगैरूपशान्तिमृच्छति।

सौ., ९.४४

काम-भोगों से कभी शान्ति प्राप्त नहीं होती है।

२६२. परत्र चैवेह च दुःखहेतवो भवन्ति कामा न तु कस्यचिच्छिवाः।

सौ., ९.४७

काम-भोग इहलोक और परलोक में दुःख के ही कारण होते हैं, उनसे किसी का कल्याण नहीं होता है।

२६३. निषेव्यमाणा विषयाश्चलात्मनो भवन्त्यनर्थाय तथा न भूतये।

सौ., ९.४८

विषयों का सेवन करने वाले चञ्चल पुरुष का अनर्थ ही होता है, कल्याण नहीं होता है।

२६४. कामा न तृप्तये।

सौ., ११.३२

काम-वासना से कभी तृप्ति नहीं होती।

२६५. कामेषु हि सतृष्णास्य न शान्तिरुपपद्यते।

सौ., ११.३७

काम-भोगों में तृष्णा रखने वाले व्यक्ति कभी-भी शान्ति प्राप्त नहीं करते हैं।

२६६. कामानां प्रार्थना दुःखा प्राप्तौ तृप्तिर्न विद्यते।

वियोगान्नियतः शोको वियोगश्च ध्रुवो दिवि॥

सौ., ११.३८

काम-विषयों की प्रार्थना में दुःख है। उनकी प्राप्ति होने पर तृप्ति नहीं होती, उनसे वियोग होने पर दुःख निश्चित है और स्वर्ग-लोक में उनसे वियोग भी निश्चित है।

२६७. लोकेऽस्मिन्नल्यारामे निवृत्तौ दुर्लभा रतिः।

सौ., १२.२२

आराम के घर इस संसार में निवृत्ति में कोई आनन्द माने ऐसा दुर्लभ है।

२६८. कामादिषु जगत्सक्तं न वेति सुखमव्ययम्।

सौ., १२.२४

काम आदि में आसक्त संसार नित्य सुख को नहीं जानता है।

२६९. रागोदामेन मनसा सर्वथा दुष्करा धृतिः।

सौ., १२.२७

राग के कारण उत्कट बने मन के लिए धैर्य अत्यन्त दुष्कर है।

२७०. विषयैरिन्द्रियग्रामो न तृप्तिमधिगच्छति।

सौ., १३.४०

विषय-भोगों से इन्द्रिय-समूह को सन्तुष्टि नहीं होती है।

२७१. विषयात्परिकल्पाच्च क्लेशाग्निर्जायते।

सौ., १३.५०

विषयों पर आश्रित विद्वेष का ही दूसरा नाम सन्ताप है। विषय और कल्पना से क्लेश-अग्नि उत्पन्न होती है।

२७२. दृष्टवैकं रूपमन्यो हि रज्यतेऽन्यः प्रदुष्यति।

कश्चिद्भवति मध्यस्थस्तत्रैवान्यो घृणायते॥

सौ., १३.५२

सौन्दर्य को देखकर एक आनन्दित होता है, दूसरा उसमें दोष मानता है तथा तीसरा मध्यस्थ उससे घृणा करता है।

२७३. न विषयो हेतुर्बन्धाय न विमुक्तये।

परिकल्पविशेषेण संगो भवति वा न वा॥

सौ., १३.५३

विषय वास्तव में न बन्धन और न मुक्ति का कारण होता है। परिकल्पना विशेष के कारण उसके प्रति आसक्ति होती है अथवा नहीं भी होती है।

२७४. तृप्तिं वित्तप्रकर्षेण स्वर्गवाप्त्या कृतार्थतां।

कामेभ्यश्च सुखोत्पत्तिं यः पश्यति स नश्यति॥

सौ., १५.१०

जो व्यक्ति धन की अधिकता में तृप्ति मानता है, स्वर्ग की प्राप्ति में जीवन की कृतार्थता मानता है और काम-भोगों से सुख की उत्पत्ति मानता है, वह नष्ट हो जाता है।

२७५. यद्यदेव प्रसक्तं हि वितर्कयति मानवः।
अभ्यासात्तेन तेनास्य नतिर्भवति चेतसः॥

सौ., १५.१८

मनुष्य जिस-जिस विषय का निरन्तर विचार करता रहता है, अभ्यास के कारण उस-उस विषय की ओर उसका मन झुक जाता है।

२७६. संसारे कृष्यमाणानां सत्त्वानां स्वेन कर्मणा।
को जनः स्वजनः को वा मोहात्सक्तो जने जनः॥

सौ., १५.३१

संसार में अपने कर्मों से खींचे जाते हुए प्राणियों के लिए कौन अपना और पराया है? मोह के कारण मनुष्य मनुष्य के प्रति आसक्त होता है।

२७७. स्वयमेव यथालिख्य रज्येच्चित्रकरः स्त्रियं।
तथा कृत्वा स्वयं स्नेहं संगमेति जने जनः॥

सौ., १५.३९

जैसे कोई चित्रकार किसी स्त्री का चित्र बनाकर उसके प्रति अनुराग उत्पन्न कर लेता है। उसी प्रकार मनुष्य अन्य मनुष्य के प्रति स्वयं ही स्नेह और मित्रता करता है।

२७८. रागात्मको मुह्यति मैत्रया।

सौ., १६.५९

रागी व्यक्ति मित्रता के प्रति मोहित होता है।

२७९. सामश्रयतः संभवति प्रवृत्तिः।

सौ., १७.२०

सामग्री को देखने से उसकी ओर प्रवृत्ति होती है।

२८०. प्रीतिः परा वस्तुनि यत्र यस्य विपर्ययात्तस्य हि तत्र दुःखम्।

सौ., १७.४९

जहाँ जिस वस्तु के प्रति प्रीति का आधिक्य होता है वहाँ उस प्रीति की हानि से दुःख होता है।

२८१. आत्मस्नेहमयं शत्रुं को वर्धयितुमर्हति।

जामा, १.२०

शरीर-प्रेम तो एक शत्रु की तरह है और इस (शत्रु) को कौन बढ़ाना चाहेगा।

२८२. विषयोपनिवेशनेऽपि मोहाद् व्रणकण्डूयनवत्सुखाभिमानः॥

जामा, १८.१८

जैसे घाव को खुजलाने में, वैसे ही विषयासक्ति में भ्रमवश ही सुख की प्रतीति हो सकती है (वास्तविक सुख प्राप्त नहीं हो सकता)।

२८३. सुखाशादेव भूतानि विकर्षति ततस्ततः।

जामा, २२.६

सुख की अभिलाषा प्राणियों को इधर-उधर (दूर-दूर) से आकर्षित करती है।

आहार

२८४. एको भुञ्जति सादूनि तं पराभवतो मुखं।

सुनि, १.६.१२

जो अकेला ही स्वादिष्ट भोजन करता है तो वह उसकी अवनति का कारण होता है।

२८५. आहारानं निरोधेन, नत्थि दुक्खस्स सम्भवो।

सुनि, ३.१२.२४

आहार के निरोध से दुःख की उत्पत्ति नहीं होती है।

२८६. दुक्खं आहारपच्चया।

सुनि, ३.१२.२५

आहार के कारण दुःख होता है।

२८७. रागद्वेषवियुक्तः सन् मात्रावच्चौषधस्य वै।

क्षुच्छान्तये हरेदन्नं शरीरस्थितयेऽथवा॥

बु, २६.४२

राग-द्वेष से वियुक्त होकर, औषधि की मात्रा की तरह, क्षुधा की निवृत्ति के लिए अथवा शरीर की स्थिति (धारणा) के लिए अन्न खाना चाहिये।

२८८. भ्रमरो रसमादत्ते भिन्ते छिन्ते न कर्हिचित्।

तथा न पीडयेत्कञ्चिद् वृत्तिं मात्रामिदार्जयन्॥

बु, २६.४३

जिस तरह भौरा फूलों का रस लेता है किन्तु फूलों का छेदन-भेदन नहीं करता है। उसी तरह मात्रानुसार भोजन प्राप्त करते हुए किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहिये।

२८९. वरं हितोदकर्मनिष्ठमन्नं न स्वादु यत्स्यादहितानुबद्धम्।

सौ., ५.४६

हितकारी अन्न इच्छित न होने पर भी श्रेष्ठ है, स्वादिष्ट किन्तु अहितकारी अन्न त्याज्य है।

२९०. प्राणापानौ निगूहणाति ग्लानिनिद्रे प्रयच्छति।
कृतो ह्यत्यर्थमाहारो विहन्ति च पराक्रमं॥

सौ., १४.२

बहुत अधिक आहार करने से प्राण और अपान वायु में रुकावट उत्पन्न होती है तथा पराक्रम का विनाश होता है।

२९१. आवयं द्युतिमुत्साहं प्रयोगं बलमेव च।
भोजनं कृतमत्यल्पं शरीरस्यापकर्षति॥

सौ., १४.४

जिस प्रकार अत्यधिक आहार अनर्थकारी होता है उसी प्रकार अत्यन्त अल्प आहार शक्ति देने वाला नहीं होता है।

२९२. समा तिष्ठति युक्तेन भोज्येनेयं तथा तनुः।

सौ., १४.५

उचित भोजन करने से यह शरीर स्वस्थ रहता है।

२९३. अत्यन्तमपि संहारो नाहारस्य प्रशस्यते।
अनाहारो हि निर्वाति निरिन्धिन इवानलः॥

सौ., १४.८

भोजन को बिल्कुल छोड़ देना प्रशंसनीय कार्य नहीं है। न खाने वाला ईधन-रहित अग्नि के समान शान्त हो जाता है।

२९४. यस्मान्नास्ति विनाहारात्सर्वप्राणभृतां स्थितिः।
तस्माददुष्यति नाहारो विकल्पोऽत्र तु वार्यते॥

सौ., १४.९

जिस आहार के बिना सभी प्राणियों की स्थिति नहीं है अतः उस भोजन में दोष नहीं है किन्तु इस भोजन का कोई विकल्प नहीं है।

२९५. चिकित्सार्थं यथा धत्ते व्रणस्यालेपनं वणी।
क्षुद्धिघातार्थमाहारस्तद्वत्सेव्यो मुमुक्षुणा॥

सौ., १४.११

जैसे घायल के घाव की चिकित्सा के लिए मरहम लगाया जाता है उसी प्रकार मोक्षकामी को भूख को मिटाने के लिए आहार करना चाहिये।

२९६. ...अभ्यवहर्तव्यं भोजनं प्रतिसंख्यया।
न भूषार्थं न वपुषे न मदाय न द्यतये॥

सौ., १४.१४

भोजन को ज्ञानपूर्वक ग्रहण करना चाहिये, न कि सुन्दरता, शरीर, मद और अहंकार के लिये।

२९७. धारणार्थं शरीरस्य भोजनं हि विधीयते।

सौ., १४.१५

शरीर की रक्षा के लिए ही भोजन का विधान है।

२९८. मुखपूरं न भुञ्जीत सशब्दं प्रसृताननम्।
प्रलम्बपादं नासीत न बाहू मर्दयेत्समम्॥

बोधि च, ५.९२

मुख पूरा भरकर, शब्द करते हुए तथा मुख खोलकर भोजन नहीं करना चाहिये। पैर लम्बे करके नहीं बैठना चाहिये और न ही भुजाओं का एक साथ मर्दन करना चाहिये।

२९९. धर्माधर्मनिराशङ्क सर्वाशी सुखमेधते।
धर्म्या तु वृत्तिमन्विच्छन्विचिताशीह दुःखितः॥

जामा, १६.१

धर्म और अधर्म का विचार न करने वाला सर्वभक्षी (प्राणी) सुख पाता है। किन्तु धर्मानुसार व्यवहार का अनुसन्धान करने वाला तथा चुन-चुन कर खानेवाला दुःखी रहता है।

ईश्वर

३००. ऐश्वरञ्चेदिदं विश्वं भवेनेत्थं व्यवस्थितम्।
दुःखैर्नाभिभवेत्कश्चिन्नानायोगिं न संब्रजेत्॥

बु, १८.२०

यदि यह जगत् ईश्वर-रचित होता तो इस तरह का व्यवस्थित नहीं होता तथा कोई प्राणी दुःख से पीड़ित नहीं होता और नाना योगियों में नहीं भटकता।

३०१. इच्छितानिच्छिते किञ्चिन्न संभूयाच्च देहिनाम्।
यदि चैषां भवेत्किन्विदीश्वरस्यापि संभवेत्॥

बु, १८.२१

देहधारियों के लिए इच्छित अनिच्छित (अपनी इच्छा, अनिच्छा से) कुछ भी (कार्य का भोग) प्राप्त नहीं होता। यदि इन (देहधारियों) को प्राप्त हो सकता होता तो ईश्वर को भी प्राप्त होना सम्भव होता।

३०२. ईश्वरो यदि सत्यं चेद्विचिकित्सा कथं भवेत्।
दुर्वदेन विपत्तौ च नान्यान् देवांश्च पूजयेत्॥

बु, १८.२२

यदि सच में कोई ईश्वर होता तो ईश्वर के विषय में विचिकित्सा (सन्देह) नहीं होता। लोग विपत्ति में ईश्वर को दुर्वाद (अपशब्द) नहीं कहते तथा दूसरे देवों की पूजा नहीं करते।

३०३. दृश्यमीशस्य संकल्प इत्यपि च न सिद्ध्यति।
ईशोऽत्राविद्यमानेऽपि दृश्यस्य वर्तनं कथम्॥

बु, १८.२३

यह दृश्य (जगत्) ईश्वर का संकल्प है— यह भी सिद्ध नहीं होता है। ईश्वर यहाँ विद्यमान नहीं है फिर भी जगत् का संचालन हो रहा है, यह कैसे संभव है?

३०४. संकल्पस्यैव सातत्यं कर्तृत्वं संभवेद्यदि।
संकल्प एव कर्ता स्यात् कथं नेशः स एव हि॥

बु, १८.२४

यदि ईश का संकल्प ही निरन्तर इस जगत् का संचालन कर रहा है तो वह संकल्प ही कर्ता माना जा सकता है और वही ईश्वर भी क्यों न माना जाय?

३०५. संकल्पेन विनैवेशः कुरुते चेदहेतुकम्।
बालवत्परमेशस्य नाधिकारः स्वचेतसि॥

बु, १८.२५

यदि ईश्वर, बिना संकल्प के और बिना कारण के जगत् रचता है तो वह बालक की तरह बुद्धि—रहित है। अपने चित्त पर भी उसका अधिकार नहीं है।

३०६. सुखं वा यदि वा दुःखं ददाति स्वेच्छया विभुः।
इच्छाधीनः कथं कर्ता स्वतन्त्रः सोऽत्र संभवेत्॥

बु, १८.२६

यदि वह विभु परमात्मा अपनी इच्छा से लोगों को सुख या दुःख देता है तो वह इच्छा के अधीन कहलाया। फिर स्वतन्त्र कर्ता यह सिद्धान्त कैसे बनेगा?

३०७. ईश्वरेप्सितकर्माणि मानवः कुरुते यदि।
स एव फलभोक्ता स्यान्न नरः फलभाग् भवेत्॥

बु, १८.२७

यदि यह कहा जाय कि मनुष्य, ईश्वर की इच्छा से कर्म करता है तो फिर ईश्वर ही फलभोक्ता भी होना चाहिये, मनुष्य नहीं।

३०८. परिणतः स ईशस्तु जगद्रूपेण चेद्विभुः।
तद्रूपत्वादतः सर्वे चेश्वरा एव नो नराः॥

बु, १८.२८

यदि यह कहा जाय कि वह व्यापक ईश्वर ही जगत् रूप में परिणत हो गया है, तब तो तद्रूप होने से सब मनुष्य ईश्वर ही हैं, मनुष्य नहीं।

३०९. परप्रेरित ईशश्चेत्करोति न निजेच्छया।
अनवस्था ततस्तस्माज्जगत्कर्ता न सिद्ध्यति॥

बु, १८.२९

यदि ईश्वर किसी अन्य की इच्छा से जगत् रचता है तब अनवस्था दोष के कारण वह जगत् का कर्ता सिद्ध नहीं होता है।

३१०. एकः कर्ता न वस्तूनां बहूनां कारणं भवेत्।
एकात्मकः स्वभावोऽयं कथं विश्वस्य कारणम्॥

बु, १८.३२

एक कर्ता अनेक वस्तुओं का कारण नहीं हो सकता है। फिर संकल्प एक है तो अनेकानेक वस्तु-संघात-स्वरूप विश्व का कर्ता एक कैसे हो सकता है?

उत्तम मंगल

३११. असेवना च बालानं, पण्डितानं च सेवना।
पूजा च पूजनीयानं, एतं मङ्गलमुत्तमं॥

सुनि, २.४.२

मूर्खों की संगति न करना, बुद्धिमानों की संगति करना और पूज्यों की पूजा करना— यह उत्तम मंगल है।

३१२. पतिरूपदेसवासो च, पुब्बे च कतपुञ्जता।
अत्तसम्मापणिधि च, एतं मङ्गलमुत्तमं॥

सुनि, २.४.३

अनुकूल स्थानों में निवास करना, पूर्व-जन्म के संचित पुण्य का होना और अपने को सन्मार्ग पर लगाना— यह उत्तम मंगल है।

३१३. बाहुसच्चं च स सिप्पं च, विनयो च सुसिक्खितो।
सुभासिता च या वाचा, एतं मङ्गलमुत्तमं॥

सुनि, २.४.४

बहुश्रुत होना, शिल्प सीखना, शिष्ट होना, सुशिक्षित होना और सुभाषण करना— यह उत्तम मंगल है।

३१४. दानं च धम्मचरिया च, जातकानं च सङ्गहो।
अनवज्जानि कम्मनि, एतं मङ्गलमुत्तमं॥

सुनि, २.४.६

दान देना, धर्माचरण करना, बन्धु-बान्धवों की संगति और निर्दोष कार्य करना— यह उत्तम मंगल है।

३१५. आरति विरति पापा, मज्जपाना च संयमो।
अप्पमादो च धम्मेषु, एतं मङ्गलमुत्तमं॥

सुनि, २.४.७

मन, शरीर, तथा वचन से पापों को त्यागना, मद्यपान में संयम और धार्मिक कार्यों में तत्पर रहना— यह उत्तम मंगल है।

३१६. गारवो च निवातो च, सन्तुद्धी च कतञ्जुता।
कालेन धम्मसवणं, एतं मङ्गलमुत्तमं॥

सुनि, २.४.८

गौरव करना, नम्र होना, सन्तुष्ट रहना, कृतज्ञ होना और उचित समय पर धर्म-श्रवण करना— यह उत्तम मंगल है।

३१७. खन्ती च सोवचस्सता, समणानं च दस्सनं।
कालेन धम्मसाकच्छा, एतं मङ्गलमुत्तमं॥

सुनि, २.४.९

क्षमाशील होना, आज्ञाकारी होना, श्रमणों का दर्शन करना और उचित समय पर धार्मिक चर्चा करना— यह उत्तम मंगल है।

३१८. फुट्टस्स लोकधम्मोहि, चित्तं यस्स न कम्पति।
असोकं विरजं खेमं, एतं मङ्गलमुत्तमं॥

सुनि, २.४.११

जिसका चित्त लोकधर्म से विचलित नहीं होता, वह निःशोक, निर्मल तथा कल्याणमय रहता है— यह उत्तम मंगल है।

एकाकी

३१९. एको चरे खग्गविसाणकण्णो।

सुनि, १.३.१

गेंडे की भाँति अकेला विचरण करे।

३२०. अद्धान तं संगणिकारतस्स,
यं फस्सये सामयिकं विमुत्तिं।

सुनि, १.३.२०

झुण्ड में रहने वाले के लिए सामयिक मुक्ति को पाना भी असम्भव है।

३२१. एकस्स चरितं सेय्यो। (पा.)
एकस्य चरितं श्रेयो। (सं.)

धप, ३३०

अकेले का विचरना श्रेष्ठ है।

३२२. नास्ति जरामरणसंस्कृते काश्चि सखा।

लवि, १५.७२५

जरा—मरण के इस बनावटी जगत् में कोई साथी नहीं है।

३२३. नास्ति लोके रहो नाम पापं कर्म प्रकुर्वतः।

जामा, १२.१३

पापकर्म करने वाले के लिए संसार में कोई स्थान सूना नहीं है।

३२४. अहोमानी बालः पापे प्रवर्तते।

जामा, १२.१४

एकान्त समझने वाला नादान पाप—कर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

३२५. परेण यच्च दृश्यते दुष्कृतं स्वयमेव वा।
सुदृष्टतरमेतद् स्याद् दृश्यते स्वयमेव वा॥

जामा, १२.१६

(मनुष्य के) कुकर्म को दूसरा कोई देखे या वह स्वयं देखे। किन्तु (वास्तव में) जो कर्म स्वयं देखा जाता है वह अच्छी तरह देखा (माना) जाता है।

३२६. स्वकार्यपर्याकुलमानसत्वात्पश्येन्न वान्यश्चरितं परस्य।
रागार्पितैकाग्रमतिः स्वयं तु पापं प्रकुर्वन् नियमेन वेत्ति॥

जामा, १२.१७

अपने कार्य में व्यस्त रहने के कारण दूसरा कोई अन्य के कर्म को देखे या न देखे। किन्तु आसक्ति के कारण एकाग्रचित्त होकर पाप—कर्म को करने वाला मनुष्य स्वयं तो निश्चितरूप से जानता ही है (कि वह पापकर्म कर रहा है)।

३२७. अदृश्यमानोऽपि हि पापमाचरन् विषं निषेव्येय कथं समृध्नुयात्।
न तं न पश्यन्ति विशुद्धचक्षुषो दिवौकसश्चैव नराश्च योगिनः॥

जामा, १३.२६

छिपकर पाप का आचरण करने से उसी प्रकार कोई समृद्धिशाली नहीं हो सकता जैसे विष पीकर कोई हृष्ट—पुष्ट नहीं हो सकता। उस (पाप—कर्म) को निर्मल नेत्रवाले देवता, मनुष्य और योगी नहीं देखते हैं— ऐसा नहीं है (अर्थात् अवश्य ही देखते हैं)।

करुणा

३२८. सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः।

बु, ९.१७

सब प्राणियों पर दया करना ही धर्म है।

३२९. जीवेषु करुणा चापि मैत्री तेषु विधीयताम्॥

बु, २३.५३.

जीवों में करुणा एवं मैत्री कीजिये।

३३०. महत्स्वपि स्वदुःखेषु व्यक्तधैर्याः कृपात्मकाः।
मृदूनाप्यन्यदुःखेन कम्पन्ते यत्तदद्भुतम्॥

जामा, १.१७

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि दयाशील पुरुष स्वयं के भारी दुःखों में भी धीरज धारण करते हैं और दूसरों के साधारण दुःख से भी काँपने लगते हैं।

३३१. अनुकम्प्यो विशेषेण सतामापद्गतो ननु।

जामा, ७.२१

जो मुसीबत से घिरा होता है वह निश्चय ही साधु पुरुषों की विशेष कृपा का पात्र होता है।

३३२. जनस्य हि प्रियार्हस्य विप्रियाख्यानवह्निना।
उपेत्य मनसस्तापः सघृणेन सुदुष्करः॥

जामा, ९.८२

जो व्यक्ति प्रिय (समाचार सुनाने) के योग्य है उसे अप्रिय समाचाररूपी अग्नि से मानसिक क्लेश पहुँचाना (कम से कम) दयालु पुरुष के लिए तो अत्यन्त कठिन कार्य है।

३३३. आर्तेषु कारुण्यमयी प्रवृत्तिस्तपोधनानां किमयं न मार्गः।

जामा, २१.१६

पीड़ितों के प्रति दयापूर्ण व्यवहार करना क्या तपस्वियों का धर्म नहीं है?

३३४. आपद्गतो बन्धुमुहद्विहीनः कृताञ्जलिर्दीनमुदीक्षमाणः।

करोति शत्रूनपि सानुकम्पानाकम्पयत्येव तु सानुकम्पान्॥

जामा, २४.९

मुसीबत से घिरा हुआ तथा मित्रों और बन्धुओं (की सहायता) से रहित मनुष्य जब हाथ जोड़कर दीन-दृष्टि से देखता है तो दयालुओं को तो दयाभाव से भर ही देता है किन्तु शत्रुओं को भी दया से पिघला देता है।

३३५. आत्मनीव दया स्याच्चेत्स्वजने वा यथा जने।

कस्य नाम भवेच्चित्तमधर्मप्रणयाशिवम्॥

जामा, २६.३९

जैसे मनुष्य अपने प्रति दया रखता है वैसे ही यदि वह स्वजनों और अन्य लोगों के प्रति भी दयाभाव रखे तो फिर किसका मन अधर्म में रुचि रखकर अमंगलमय होगा।

३३६. दयावियोगात्तु जनः परमामेति विक्रियाम्।

मनोवाक्कायविस्पन्दैः स्वजनेऽपि जने यथा॥

जामा, २६.४०

दया के अभाव में मनुष्य, वाचिक और शारीरिक व्यवहारों के द्वारा स्वजन के प्रति और पराये लोगों के प्रति भी समानरूप से विकार को प्राप्त हो जाता है।

३३७. धर्मार्थी न त्यजेदस्माद्दयामिष्टफलोदयाम्।

सुवृष्टिरिव सस्यानि गुणान् सा हि प्रसूयते॥

जामा, २६.४१

धर्म की अभिलाषा रखने वाला मनुष्य इच्छित फल देने वाली दया को (कभी-भी किसी भी परिस्थिति में) न छोड़े क्योंकि वह सदगुणों को वैसे ही उत्पन्न करती है जैसे अच्छी वर्षा सस्य को।

३३८. दयालुर्नोद्वेगं जनयति परेषामुपशमाद्

दयावान् विश्वास्यो भवति जगतां बान्धव इव।

न संरम्भक्षोभः प्रभवति दयाधीरहृदये

न कोपाग्निश्चित्ते ज्वलति हि दयातोयशिशिरे॥

जामा, २६.४३

दयालु पुरुष अपने शान्त स्वभाव के कारण दूसरों (के मन) में बैचैनी

उत्पन्न नहीं करता है। वह अन्य लोगों के लिए बन्धु के समान विश्वसनीय होता है। दया से धैर्यवान् बने मन में क्रोध—जन्य क्षोभ उत्पन्न नहीं होता है। दयारूप जल से शीतल बने चित्त में क्रोधाग्नि प्रज्वलित नहीं होती है।

३३९. सङ्क्षेपेण दयामतः स्थिरतया पश्यन्ति धर्मं बुधाः।

को नामास्ति गुणः स साधुदयितो यो नानुयातो दयाम्॥

जामा, २६.४४

संक्षेप में दया ही धर्म है— यह बुद्धिमानों का स्थिर मत है। सज्जनों का प्रिय ऐसा कौन—सा गुण है जो दया के पीछे—पीछे नहीं चलता है?

३४०. प्रतिसंख्यानमहतां न तथा करुणात्मनाम्।

बाधते दुःखमुत्पन्नं परावेव यथाश्रितम्॥

जामा, २८.५७

शान्तचित्त (महाज्ञानी) वे करुणा—सम्पन्न पुरुष स्वयं पर आए हुए दुःख से उतने दुःखी नहीं होते जितने कि दूसरों पर आए दुःख से।

३४१. मरणव्याधिदुःखार्ते लोभदोषवशीकृते।

दग्धे दुश्चरितैः शोच्ये कः कोपं कर्तुमर्हति॥

जामा, २८.६३

मृत्यु और रोग के दुःख से पीड़ित, लोभ और द्वेष के वशीभूत तथा दुष्कर्मों से जलने वाले शोक—योग्य व्यक्ति पर कौन (ज्ञानी) क्रोध करेगा?

३४२. आर्ते प्रवृत्तिः साधूनां कृपया न तु लिप्सया।

तामवैति परो मा वा तत्र कोपस्य को विधिः॥

जामा, ३४.१६

सत्पुरुष दया से प्रेरित होकर दुःखी व्यक्ति का उपकार करते हैं, न कि किसी लाभ की इच्छा से। वह (उपकृत) उस उपकार को माने या न माने, इसमें क्रोध का क्या कारण है?

३४३. परानुग्रहप्रवृत्तिहेतुः करुणा।

जामा, पृ. १३

यह करुणा दूसरों पर कृपा करने में कारण (प्रेरक) होती है।

३४४. न परदुःखातुराः स्वसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिकाः।

जामा, पृ. ९२

दूसरों के दुःखों से दुःखी रहने वाले महाकृपालु पुरुष अपने सुख की परवाह नहीं करते हैं।

३४५. आपदपि महात्मनामैश्वर्यसम्पद्वा सत्त्वेष्वनुकम्पां न शिथिलीकरोति ।

जामा, पृ. १५९

प्राणियों के प्रति महापुरुषों के दयाभाव को आपत्ति अथवा ऐश्वर्य—सम्पत्ति शिथिल नहीं कर पाती है ।

३४६. असत्कृतानामपि सत्पुरुषाणां पूर्वोपकारिष्वनुकम्पा न शिथिलीभवति कृतज्ञत्वात् क्षमासात्म्याच्च ॥

जामा, पृ. २९३

कृतज्ञता और क्षमाशीलता के कारण, सज्जनों का दयाभाव उन मनुष्यों के प्रति भी कम नहीं होता जिन्होंने पहले कभी उनका उपकार किया था किन्तु अब उनका अपमान कर रहे हैं ।

३४७. जिघांसुमप्यापद्गतमनुकम्पन्त एव महाकारुणिका नापेक्षन्ते ।

जामा, पृ. ३२१

हत्या की इच्छा रखने वाला भी यदि मुसीबत में पड़ जाए तो उस पर भी महाकरुणा से सम्पन्न सत्पुरुष करुणा ही दिखाते हैं, उसकी उपेक्षा नहीं करते हैं ।

३४८. मिथ्यादृष्टिपरमाण्यवधानीति विशेषानुकम्प्याः सतां दृष्टिव्यसनगताः ।

जामा, पृ. ३९१

मिथ्या दृष्टि रखने वाले (मत अथवा मनुष्य) निन्दा के योग्य हैं— इसलिये (ऐसी मिथ्या) दृष्टि के संकट से ग्रस्त वे सज्जनों की विशेष कृपा के पात्र हैं ।

कर्मफल

३४९. यो अण्डदुहस्स नरस्स दुस्सति, सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स ।

तमेव बालं पच्चेति पापं, सुखुमो रजो पटिवातं व खित्तो ॥

सुनि, ३.१०.६

जो दोष—रहित, शुद्ध, निर्मल पुरुष को दोष लगाता है, उसका पाप उल्टी हवा में फेंकी सूक्ष्म धूल की तरह उसी मूर्ख पर पड़ता है ।

३५०. न हि नस्सति कस्सचि कम्मं ।

सुनि, ३.१०.१०

किसी का कर्म नष्ट नहीं होता है ।

३५१. अत्तदण्डा भयं जातं ।

सुनि, ४.१५.१

अपने दुष्कर्मों से ही भय उत्पन्न होता है ।

३५२. भद्रोऽपि पस्सति पापं, याव भद्रं न पच्चति॥ (पा.)
भद्रोऽपि पश्यति पापं यावद् भद्रं न पच्यते॥ (सं.)

धप, १२०

जब तक शुभ-कर्म फल नहीं देता, भला आदमी भी पाप (कर्मों) की ओर ही देखता है।

३५३. सेहि कम्मेहि दुम्मेधो, अग्गिदड्ढो व तप्पति। (पा.)
स्वैः कर्मभिः दुर्मेधा अग्निदग्ध इव तप्यते। (सं.)

धप, १३६

दुर्बुद्धि (पुरुष) अपने ही कर्मों के कारण आग से जले हुए की भाँति सन्तप्त होता है।

३५४. अतिधोनचारिनं सानि कम्मानि नयन्ति दुग्गतिं। (पा.)
अतिधावनचारिणं स्वानि कर्माणि नयन्ति दुर्गतिम्। (सं.)

धप, २४०

पवित्र आचरण का अतिक्रमण करने वाले को (उसके) अपने (ही) कर्म दुर्गति की ओर ले जाते हैं।

३५५. यं किञ्चि कम्मं सङ्गिलिद्धं च यं वतं।
सङ्कस्सरं ब्रह्मचरियं न त होति महप्फलं॥ (पा.)
यत्किञ्चित् शिथिलं कर्म संक्लिष्टं च यद् व्रतम्।
शंकास्मरं ब्रह्मचर्यं न तद् भवति महत्फलम्॥ (सं.)

धप, ३१२

जो कोई कर्म शिथिल है, जो व्रत क्लेशयुक्त है और (जो) ब्रह्मचर्य शंका और स्मर (काम) से युक्त है वह महाफल (दायक) नहीं होता है।

३५६. अन्यत्र कर्म सुकृतादनुबन्धति पृष्ठतो याति॥

लवि, ४.६१

सुकृत कर्म को छोड़कर और कोई न साथ देता है न पीछे जाता है।

३५७. सुचरितचरणा न तप्यन्ते।

लवि, ४.६२

सुचरित का आचरण करने वाले (दुःख) से नहीं तपते हैं।

३५८. व्यवसायबुद्धिपुरुषस्य रणे प्रसिद्धि।

लवि, २१.९४९

कर्मशील पुरुष को युद्ध में उत्तम सफलता मिलती है।

३५९. अधार्मिकजने मानं धार्मिकानां च निग्रहम्।
त्रयस्तत्र प्रकुप्यन्ते नक्षत्रजलवायवः॥

सुप्रसू. १३.३४

जहाँ पर अधर्मियों की पूजा तथा धार्मिकों का उत्पीड़न होगा, वहाँ इन तीन तत्त्वों—नक्षत्र, जल तथा वायु का उत्पात होगा।

३६०. त्रयो भावा विनश्यन्ति अधार्मिकजनोद्ग्रहे।
सद्धर्मरसनौजश्च सत्त्वोजः पृथिवीरसः॥

सुप्रसू. १३.३५

जहाँ अधार्मिकों को श्रेय दिया जाता है, वहाँ तीन भावों का नाश हो जाता है—सद्धर्म की गन्ध तथा ओज, प्राणियों का ओज तथा पृथ्वी की गन्ध।

३६१. असत्यजनसम्मानं सत्यजनविमानता।
त्रयस्तत्र भविष्यन्ति दुर्भिक्षमथ निर्धरम्।
फलसस्यरसौजश्च न भवति तदन्तरे॥

सुप्रसू. १३.३६

जहाँ असत्य वादियों का सम्मान होता है तथा सत्य निष्ठों का अपमान होता है, वहाँ तीन बातें होंगी—अकाल, विद्युत्पात तथा मलिनता, उसके बाद फलों एवं धान्यों के रस में पुष्टिकारक तत्त्व नहीं होंगे।

३६२. प्रमाणं न वयो न वंशः कश्चित् क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके।

बु. १.४६

न तो अवस्था ही प्रमाण है और न वंश ही। संसार में कोई भी, कहीं भी श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है।

३६३. स्वजनैर्लालिताः पुष्टाः सम्यक्प्रेम्णा च वर्धिताः।
तथापि विविधैर्दुःखैः क्लिश्यन्ते ते स्वकर्मभिः॥

बु. १४.३३

स्वजनों द्वारा बड़े प्रेम से लालन—पालन किये जाने पर भी मनुष्य अपने कर्मानुसार विविध दुःखों से क्लेश पाते ही हैं।

३६४. कामरागोद्भवो दोषः सर्गस्य बीजमव्ययम्।
उत्तमाधममध्यानां भेदे कर्म हि कारणम्॥

बु. १५.५०

काम और राग से उत्पन्न दोष, सृष्टि का अविनाशी बीज है तथा उत्तम, मध्यम और अधम आदि भेद का कारण कर्म है।

३६५. शीतोष्णवातवर्षाभी रोगशोकादिभिः पुनः।
निष्फलितोद्यमो लोको न स्वतन्त्रः कदाचन॥

बु, १८.४८

शीत, गर्मी एवं वर्षा आदि से तथा रोग-शोक आदि से पुरुष का उद्योग निष्फल हो जाता है। अतः पुरुष स्वतन्त्र नहीं है।

३६६. कर्मभिश्चाखिलं लोकमाबद्धं विद्धि।

बु, १९.२०

यह सम्पूर्ण विश्व कर्म से आबद्ध है, ऐसा जानें।

३६७. मित्रं लोकस्य सत्कर्म शत्रुश्चान्यत् प्रचक्ष्यते।
जगतः कर्मणो ज्ञानं सरहस्यं च चिन्तय॥

बु, १९.२२

सत्कर्म प्राणी का मित्र है। पाप कर्म शत्रु कहा जाता है। अतः जगत् के कर्म-ज्ञान के बारे में रहस्यसहित विचार करें।

३६८. स्वर्गे वा नरके मर्त्यो भ्राम्यते कर्मभिर्नृप।

बु, १९.२३

हे राजन्! मर्त्य (प्राणी) कर्म से ही स्वर्ग अथवा नरक में घूमते (जन्म लेते) हैं।

३६९. यः कर्ता स हि भोक्ता स्यात्कर्मणस्तु फलं ध्रुवम्।
नाकृतस्य फलं जातु कर्मणो निश्चितं भवेत्॥

बु, २०.३२

जो कर्ता है, वही भोक्ता है। कर्म का फल निश्चित होता है जो कर्म नहीं किया गया हो उसका भी कोई निश्चित फल नहीं होता।

३७०. इहामुत्र फलं नास्ति कृतेन कर्मणा विना।

बु, २०.३३

कर्म किये बिना इस लोक में अथवा परलोक में कोई फल (भोग) नहीं मिलता है।

३७१. जीवलोके सुखं नास्ति तस्य पापरतस्य वै।
स्वयं कृतस्य पापस्य फलं भोक्ष्यति चात्महा॥

बु, २०.३४

उस पापपरायण मनुष्य को इस जीव-लोक में सुख नहीं मिलता है और वह आत्मघाती, परलोक में भी अपने किये हुए पाप का फल ही भोगेगा।

३७२. परिणामेऽप्रियं यच्च तन्न सेव्यं त्वयाऽनघ।
तत्कार्यञ्च न कर्तव्यं फलं यस्य तु कुत्सितम्॥

बु, २०.४४

हे निष्पाप! जो परिणाम में अप्रिय (दुःखद) हो, उसका सेवन तुम्हें नहीं करना चाहिये तथा वह कार्य नहीं करना चाहिये जिसका फल कुत्सित (रोग-शोक देने वाला) हो।

३७३. विषयाँश्चिन्तयन् मर्त्यस्त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
नरके पशुयोनौ वा ध्रुवं यात्यवशोऽपि सः॥

बु, २२.३०

विषयों का चिन्तन करने वाला मनुष्य अन्त में जब शरीर त्यागता है तो निश्चय ही विवश होकर नरक अथवा पशु-योनि में जाता है।

३७४. तच्च बुद्धिप्रयत्नाभ्यां विद्यया च विवर्धितम्।
सत्यं जनयति व्यक्तं ततः कर्मफलक्षयः॥

बु, २६.१३

बुद्धि, प्रयत्न और विद्या से बढ़ा हुआ वह कर्म सत्य को उत्पन्न करता है तब स्पष्टरूप से कर्मफल का क्षय होता है।

३७५. नियतं भविष्यति परत्र भवदपि च भूतमप्यथो।

सौ., ३.३६

कर्म का नियत फल होगा, हो भी रहा है और हुआ भी है।

३७६. अतृप्तौ च कुतः शान्तिरशान्तो च कुतः सुखम्।
असुखे च कुतः प्रीतिरप्रीतौ च कुतो रतिः॥

सौ., ११.३३

असंतुष्ट को शान्ति कहाँ? अशान्ति में सुख कहाँ? दुःख में प्रीति कहाँ और अप्रीति में आनन्द कहाँ?

३७७. सद्यस्तु दह्यते तावत्स्वं मनो दुष्टचेतसः।

सौ., १५.१६

दुष्ट चित्त वाले का अपना मन (दूसरों का अहित करने के बाद) स्वयं ही जलने लगता है।

३७८. शान्तस्य तुष्टस्य सुखो विवेको विज्ञाततत्त्वस्य परीक्षकस्य।
प्रहीणमानस्य च निर्मदस्य सुखं विरागत्वमसक्तबुद्धेः॥

सौ., १८.४२

जो व्यक्ति शान्त, सन्तुष्ट, तत्त्वज्ञ और दार्शनिक होता है उसे सरलता से ज्ञान प्राप्त होता है। मान-रहित, मद-रहित और अनासक्त बुद्धि वाले को सरलता से वैराग्य प्राप्त होता है।

३७९. स्तुतिर्यशोऽथ सत्कारो न पुण्याय न चायुषे।
न बलार्थं न चारोग्ये न च कायसुखाय मे॥

बोधिच, ६.९०

स्तुति, यश और सत्कार से न पुण्य प्राप्त होता है, न आयु बढ़ती है, न बल की वृद्धि होती है, न आरोग्य मिलता है और न शरीर को सुख ही मिलता है।

३८०. न सुगतपरिचर्या विद्यते स्वल्पिकापि, प्रतनुफलविभूतिः।

जामा, ३.४

यदि सुगतों की थोड़ी-सी भी सेवा की जाए तो उसका फल थोड़ा नहीं, (अधिक ही) होता है।

३८१. दानेन शीलाभरणेन तस्मात् पुण्यानि संवर्धयितुं यतध्वम्।
विवर्तमानस्य हि जन्मदुर्गे लोकस्य पुण्यानि परा प्रतिष्ठा॥

जामा, ६.८

दान और सदाचरण के द्वारा पुण्य बढ़ाने का प्रयास कीजिये क्योंकि जन्म के किले में भटकते हुए संसार (के प्राणियों) के लिए पुण्य ही बड़ा सहारा है।

३८२. तारागणानामभिभूय लक्ष्मीं विभाति यत्कान्तिगुणेन सोमः।
ज्योतीषि चाक्रम्य सहस्ररश्मिर्यददीप्यते पुण्यगुणोच्छ्रयः सः॥

जामा, ६.९

ताराओं की शोभा को फीका करके चन्द्रमा जो चमकता है और ग्रहों को प्रभाहीन करके सूरज जो दैदीप्यमान होता है वह पुण्य के विकास का ही फल है।

३८३. दृप्तस्वभावाः सचिवा नृपाश्च पुण्यप्रभावात् पृथिवीश्वराणाम्।
सदश्ववृत्त्या हतसर्वगर्वाः प्रीता इवाज्ञाधुरमुद्वहन्ति॥

जामा, ६.१०

अभिमान करने वाले राजा और मन्त्री (भी) भूपतियों के आज्ञारूपी धुरे को, अभिमान को छोड़कर, प्रसन्नतापूर्वक घोड़ों की तरह जो ढोते हैं यह उन (भूपतियों) के पुण्यों के प्रभाव के कारण ही संभव होता है।

३८४. पुण्यैर्विहीनाननुयात्यलक्ष्मीर्विस्पन्दमानानपि नीतिमार्गे।
पुण्याधिकैः सा ह्यवभत्स्यमाना पर्येत्यमर्षादिव तद्विपक्षान्॥

जामा, ६.११

नीति के मार्ग पर डगमगाकर भी चलने वाले पुण्यहीन पुरुषों के पीछे अलक्ष्मी जाती है। (पुण्यशाली लोगों के) पुण्यों की अधिकता से तिरस्कृत हुई यह अलक्ष्मी क्रोधपूर्वक उन विपक्षियों (पुण्यहीनों) को घेर लेती है।

३८५. दुःखप्रतिष्ठादयशोऽनुबद्धादपुण्यमार्गादुपरम्य तस्मात्।
श्रीमत्सु सौख्योदयसाधनेषु पुण्यप्रसङ्गेषु मतिं कुरुध्वम्॥

जामा, ६.१२

दुःख और अपयश के निवास-स्थान, अपुण्य (पाप)— मार्ग से विरत होकर सुख के अभ्युदय के सुन्दर साधन, पुण्य में अपना मन लगाइये।

३८६. स्विष्ट्याभितुष्टानि हि दैवतानि भूतानि वृष्ट्या प्रतिमानयन्ति।

जामा, १०.८

विधिपूर्वक सम्पादित यागों से सन्तुष्ट हुए देवता जल-वर्षण के द्वारा प्राणियों को प्रसन्न करते हैं।

३८७. परैः कृतं को हि परत्र लप्स्यते।

जामा, १०.११

दूसरों के द्वारा किए गए कर्मफल को कौन (दूसरा) परलोक में प्राप्त करेगा?

३८८. यच्चोभयोरित्यहितावहं स्याल्लोके परस्मिन्निह चैव कर्म।
तद्यस्य हेतोरबुधा भजन्ते तस्यैव हेतोर्न बुधा भजन्ते॥

जामा, १३.२०

जो कर्म इहलोक व परलोक में अत्यन्त अनिष्ट करने वाला है उस कर्म को जिस प्रयोजन से मूर्ख करते हैं उसी प्रयोजन से विद्वान् उसे नहीं करते।

३८९. अभ्यासयोगाद्धि शुभाशुभानि कर्माणि सात्त्येन भवन्ति पुंसाम्।
तथाविधान्येव यदप्रयत्नाज्जन्मान्तरे स्वप्न इवाचरन्ति॥

जामा, १५.१

अभ्यास के प्रभाव से भले या बुरे कर्म मनुष्यों की आत्मा के गुण बन जाते हैं। इसीलिये वे उन कर्मों को दूसरे जन्म में भी वैसे ही अनायास करते रहते हैं जैसे स्वप्न में कर रहे हों।

३९०. हीमता त्विह दुर्जीवं नित्यं शुचिगवेषिणा।
सलीलेनाप्रगल्भेन शुद्धाजीवेन जीवता॥

जामा, १६.३

नित्य पवित्रता की खोज करने वाला, शुद्ध आजीविका वाला, लज्जाशील, सावधान और अप्रगल्भ व्यक्ति दुःखमय जीवन बिताता है।

३९१. विस्मृतात्ययशङ्कानां सूक्ष्मैर्विश्वासनक्रमैः।
विकरोत्येव विश्रम्भः प्रमादापनयाकरः॥

जामा, २२.२४

जो व्यक्ति विश्वास के सूक्ष्म उपायों द्वारा अनिष्ट की आशंका को भूल जाते हैं, उनका अनिष्ट असावधानी और अनीतिजनक विश्वास के द्वारा अवश्य होता है।

३९२. सर्वं तु पूर्वकृतकर्मनिमित्तमेतत्।
सौख्यप्रयत्ननिपुणोऽपि हि दुःखमेति॥

जामा, २३.१९

यह सब पूर्व (जन्मों में किए गए) कर्मों का परिणाम है। क्योंकि सुख के लिए कुशलतापूर्वक प्रयत्न करने वाला भी दुःख पाता है।

३९३. भवेच्च सौख्यं यदि दुःखहेतुषु स्थितस्य दुःखं सुखसाधनेषु वा।
अतोऽनुमीयेत सुखासुखं ध्रुवं प्रवर्तते पूर्वकृतैकहेतुकम्॥

जामा, २३.४३

यदि दुःख उत्पन्न करने वाली स्थिति में रहनेवाले को सुख होता और सुख के साधनों का उपभोग करने वाले को दुःख होता तब यह अनुमान करना संभव था कि सुख व दुःख अवश्य ही (साधनों से उत्पन्न नहीं होते बल्कि) पूर्वकर्मों से उत्पन्न होते हैं।

३९४. लोकः परो यदि न कश्चन किं विवर्ज्यं
पापं शुभं प्रति च किं बहुमानमोहः।
स्वच्छन्दरम्यचरितोऽत्र विचक्षणः स्यात्॥...

जामा, २३.४६

यदि कोई परलोक नहीं है तो किसी पापकर्म को क्यों छोड़ा जाए? और किसी पुण्य-कर्म के प्रति आदरभाव क्यों दिखाया जाए? अपने मन को जो अच्छा लगे उसी का आचरण करने वाला (स्वच्छन्दाचारी) ही चतुर समझा जाएगा।

३९५. पापं च कर्म परिवर्जयितुं यतेथा दुःखो हि तस्य नियमेन विपाककालः।

जामा, २४.३५

पाप—कर्म छोड़ने का प्रयत्न करो क्योंकि उस (पाप) के फल की प्राप्ति का क्षण अत्यधिक कष्टदायी होता है।

३९६. आसाद्य वस्तूनि हि तादृशानि क्रियाविशेषैरभिसंस्कृतानि।

लब्धप्रयामाणि विपक्षमान्धात्कर्माणि सद्यः फलतां व्रजन्ति॥

जामा, २६.१९

सत्कर्म—विशेषों से परिष्कृत (पुण्यशाली) (प्राणियों) को लक्ष्य बनाकर किये गये मनुष्य के दुष्कर्म विपक्ष अर्थात् सत्कर्म के मन्द अथवा नगण्य होने के कारण और अधिक शक्तिशाली बनकर तुरन्त फल देते हैं।

३९७. कुलेन रूपेण वयोगुणेन वा बलप्रकर्षेण धनोदयेन वा।

परत्र नाप्नोति सुखानि कश्चन प्रदानशीलादिगुणैरसंस्कृतः॥

जामा, २८.१६

कोई भी मनुष्य कुल, रूप, अवस्था, बल की अधिकता अथवा धन—सम्पत्ति के कारण परलोक में सुख प्राप्त नहीं कर सकता है— यदि वह दान, शील आदि गुणों से संस्कृत नहीं है।

३९८. कुलादिहीनोऽपि हि पापनिःस्पृहः प्रदानशीलादिगुणाभिपत्तिमान्।

परत्रसौख्यैरभिसार्यते ध्रुवं घनागमे सिन्धुजलैरिवार्षवः॥

जामा, २८.१७

कुल आदि से रहित होने पर भी जो प्राणी पाप से विमुख होकर दान, शील आदि गुणों का आचरण करता है, परलोक में भी सुख उसका उसी प्रकार अनुसरण करते हैं जैसे वर्षा ऋतु में नदी का जल समुद्र का पीछा करता है।

३९९. अरोगतायुर्धनरूपजातिभिर्निकृष्टमध्योत्तमभेदचित्रता।

जनस्य चेयं न खलु स्वभावतः पराश्रयाद्वा त्रिविधा तु कर्मणः॥

जामा, २८.२०

स्वास्थ्य, आयु, धन, सौन्दर्य और कुल के अनुसार मनुष्य के तीन भेद होते हैं— उत्तम, मध्यम और अधम। उनके ये भेद स्वयमेव या दूसरों (माता—पिता आदि) के कारण नहीं होते बल्कि उनके अपने कर्म के फलस्वरूप ही होते हैं।

४००. अवैत्य चैवं नियतां जगत्स्थितिं चलं विनाशप्रवणं च जीवितम्।
जहीत पापानि शुभक्रमाशयादयं हि पन्था यशसे सुखाय च॥

जामा, २८.२१

संसार की यह स्थिति निश्चित (नियमपूर्वक) है तथा जीवन क्षणभंगुर और विनाशोन्मुख है— यह जानकर शुभ—कर्मों में संलग्न रहते हुए दुष्कर्मों का परित्याग करो क्योंकि (लोक में) यश और (परलोक में) आनन्द प्राप्त करने का यही मार्ग है।

४०१. मनः प्रदोषस्तु परात्मनोर्हितं विनिर्दहन्नग्निरिव प्रवर्तते।

जामा, २८.२२

चित्त में आया विकार स्वयं अपने और दूसरों के कल्याण को अग्नि की तरह जलाता है।

४०२. शुभाशुभं कर्म सुखासुखोदयं ध्रुवं परत्रेति विरूढनिश्चयः।
अपास्य पापं यतते शुभाश्रयो यथेष्टमश्रद्धतया तु गम्यते॥

जामा, २९.२

जिस पुरुष को यह विश्वास हो जाता है कि शुभ और अशुभ कर्म निश्चय ही परलोक में (क्रमशः) सुख और दुःख देते हैं वह (इस लोक में) अशुभ (कर्म या पाप) को छोड़कर शुभ (कर्म) का आश्रय लेता है तथा उसी के लिए प्रयत्न करता है। किन्तु (उक्त सिद्धान्त को न मानकर उसके प्रति) अश्रद्धा रखने वाला स्वेच्छाचारी हो जाता है।

४०३. क्रियाविशेषश्च यथा व्यवस्थितः शुभस्य पापस्य च भिन्नलक्षणः।
तथा विपाकोऽप्यशुभस्य दुर्गतिश्चित्रस्य धर्मस्य सुखाश्रया गतिः॥

जामा, ३२.४८

जिस प्रकार धर्म और अधर्म का भेद निश्चित है, उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं उसी प्रकार अधर्म का परिणाम दुर्गति है और उज्ज्वल धर्म का (परिणाम) सुखद सद्गति है।

४०४. विना न कर्मास्ति गतिप्रबन्धः शुभं न चानिष्टविपाकमस्ति।

जामा, ३३.३

कर्म के बिना (जन्मादि का) प्रवाह नहीं हो सकता और शुभ (कर्म) का अशुभ फल भी नहीं हो सकता।

४०५. उपकर्ता तु धर्मेण परतस्तत्फलेन च।
योगमायाति नियमादिहापि यशसः श्रिया॥

जामा, ३४.१८

उपकार करने वाला (उपकार को) धर्म मानकर करता है। अतः परलोक में उस धर्म का फल तथा संसार (इस लोक) में यश निश्चित रूप से प्राप्त होता है।

४०६. शीलवतामिहैवाभिप्रायाः कल्याणाः समृध्यन्ति प्रागेव पस्वेति।

जामा, पृ. २०३, २०८

शीलवान् व्यक्तियों के उत्तम अभिप्राय इस लोक में ही सिद्धि दिलाते हैं फिर परलोक की बात ही क्या? (वहाँ तो वे अवश्य ही सत्फल देते हैं।)

४०७. सर्वमिदं पूर्वकर्मकृतं सुखासुखम्।

जामा, पृ. ३०१

सुख व दुःख सब पूर्वजन्मों में किए गए कर्मों का फल है।

काय

४०८. कायममेध्यमशुचिं कृमिकुलभरितं।

जर्जरमित्तरं च भिदुरं असुखपरिगतं॥

लवि, २१.१०५९.

शरीर अमेध्य (= अपवित्र) है, अशुचि (= गंदा) है, कीटकुल से भरा है जर्जर है, (एक दिन) चला जाने वाला है, टूट जाने वाला है, असुख से व्याप्त है।

४०९. सुचिरमपि भूतोऽयं पृथिकायो महाहैः शयनवसनानैर्भोजनैर्वाहनैश्च।
शतनयकृतधर्माभेदनान्तैरनन्तं न विजहति अनुपूर्वं स्वस्वभावं कृतघ्नः॥

सुप्रसू., १९.६

दुर्गन्ध युक्त इस शरीर ने मूल्यवान् शय्या, वस्त्र, खान-पान और वाहनों का अति दीर्घकाल तक भोग किया है, यह क्षीण होकर नष्ट होने वाला है, इसका अन्त बुरा है, यह पहले से ही अपने स्वभाव को नहीं छोड़ने वाला है, यह कृतघ्न है।

४१०. भवद्वन्द्वस्य मूलं हि दुःखवेशम कलेवरम्।

तस्मिन्नष्टे न कस्य स्यात्सुखमात्यन्तिकं भवे।

बु., २६.९२

यह शरीर दुःख का आलय, भवद्वन्द्व (प्रपंच) का मूल है। इसके नष्ट होने पर संसार में किसको आत्यन्तिक सुख नहीं होगा?

४११. देहं जलफेनदुर्बलम्।

सौ., ९.६

शरीर जल के फेन के समान दुर्बल है।

४१२. सद्धर्मसेवकं कायमितरार्थं न पीडयेत्।

बोधिव., ५.८६

सद्धर्म का पालन करने वाले शरीर को, तुच्छ लाभ के लिए, कष्ट नहीं देना चाहिये।

४१३. असारस्य शरीरस्य सारो ह्येष मतः सताम्।
यत्परेषां हितार्थेषु साधनीक्रियते बुधैः॥

जामा, २४.१२, पृ. ३२३

सज्जनों के मतानुसार इस सार-रहित शरीर का यही सार है कि बुद्धिमान् पुरुष इसे परोपकार का साधन बनाए।

४१४. त्वमत्र सन्माससारथी रथी स्व एव देहो गुणसूरथो रथः।
अरूक्षताक्षो दमदानचक्रवान् समन्वितः पुण्यमनीषयेषया॥

जामा, २९.५५

गुणों को उत्पन्न करने वाला आपका शरीर ही रथ है जिसके आप रथी हैं। आपका उत्तम मन ही इस रथ का सारथि है। मैत्री इसकी धुरी है। दान और संयम इसके पहिये हैं। पुण्य की इच्छा ही इसका डण्डा है।

४१५. यतेन्द्रियाश्वः स्मृतिरश्मिसंपदा मतिप्रतोदः श्रुतिविस्तरायुधः।
ह्युपस्करः संनतिचारुकूबरः क्षमायुगो दाक्षगतिर्धृतिस्थिरः॥

जामा, २९.५६

नियन्त्रित इन्द्रियाँ इस रथ के घोड़े हैं। जागरुकता इसकी मजबूत लगाम है। बुद्धि इसका चाबुक है, शास्त्र इसके शस्त्र हैं। लज्जा इसकी सज्जा है। विनम्रता इसका सुन्दर कूबड़ है। क्षमा इसका जूआ है। दक्षता इसकी गति है। धैर्य के कारण यह स्थिर रहता है।

४१६. असद्वचः संयमनादकूजनो मनोज्ञवाङ् मन्द्रगभीरनिःस्वनः।
अमुक्तसर्धिरनियमाविखण्डनादसत्क्रियाजिह्मविवर्जनाज्वलः॥

जामा, २९.५७

बुरे वचनों पर नियन्त्रण हो जाने के कारण उस रथ में घर-घर शब्द नहीं होता। मनोहारी वचनों के कारण उसका स्वर मन्द और गम्भीर है। संयम-नियम के भंग न होने से वह जोड़ों से रहित है। कुकर्मों की कुटिलता को त्याग देने के कारण वह ऋजुता (सरलता) से युक्त है।

कार्यकारणभाव

४१७. विज्ञानमुद्भवति संक्रमणं प्रतीत्य।

लवि, २६.१४५४

(संस्कारों के) संक्रमण अर्थात् आवागमन के प्रत्यय से विज्ञान की उत्पत्ति होती है।

४१८. भवप्रत्यया च समुदेति हि जातिरस्य।

लवि, २६.१४५६

भव के प्रत्यय से इस (व्यावहारिक प्राणी) की जाति (= उत्पत्ति) होती है।

४१९. उपादानतो भवति सर्वभवप्रवृत्तिः।

लवि, २६.१४५६

उपादान से सब भवप्रवृत्ति होती है।

४२०. गुणा हि सर्वाः प्रभवन्ति हेतोः।

बु, १.४०

सब प्रकार के गुण किसी कारण से उत्पन्न होते हैं।

४२१. अद्भिर्हुताशः शममभ्युपैति तेजासि चापो गमयन्ति शोषम्।
भिन्नानि भूतानि शरीरसंस्थान्यैक्यं च गत्वा जगदुद्वहन्ति॥

बु, ९.६०

जल से अग्नि बुझती है एवं अग्नि से जल सूखता है। शरीर में स्थित भूत (पाँचों तत्व) भिन्न-भिन्न हैं और एक होकर जगत् बनाते हैं।

४२२. जन्मन एव सद्भावाज्जरामृत्यु न चान्यथा।

बु, १४.५३

जन्म का होना ही जरा-मृत्यु का कारण है, कोई और कारण नहीं है।

४२३. षडक्षाणां हि संयोगात् षड्विषयैश्च षड्विधा।
चेतनोत्पद्यते...॥

बु, १६.९०

छः इन्द्रियों के छः विषयों के साथ, छः प्रकार के संयोग से ही चेतना उत्पन्न होती है।

४२४. मणिसूर्येन्धनानां वै सम्बन्धात्पावको यथा।
विषयेन्द्रियबुद्धीनां संयोगाच्चेतना तथा॥

बु, १६.९२

सूर्यकान्त मणि में सूर्य और ईंधन के संयोग से जिस प्रकार निश्चय ही अग्नि प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार विषय, बुद्धि और इन्द्रियों के संयोग से चेतना का जन्म होता है।

४२५. बीजजो बीजभिन्नश्च चाभिन्नोऽपि यथाङ्कुरः।
शरीरेन्द्रियसंज्ञानां सम्बन्धोऽपि तथाविधः॥

बु., १६.९३

° बीज से उत्पन्न होने वाला अंकुर जिस प्रकार बीज से भिन्न भी है और अभिन्न भी है उसी प्रकार शरीर, इन्द्रियों और चेतना का सम्बन्ध भी एक दूसरे से भिन्न भी और अभिन्न भी है।

४२६. अनेकेषाञ्च धर्माणां पारस्परिकमिश्रणात्।
जनिर्भवति जन्तूनामिति बौद्धमतं मतम्॥

बु, २६.२०

अनेक धर्मों के सम्मिश्रण से प्राणियों का जन्म होता है। यही मत बौद्धमत है।

काल

४२७. कालो जगत्कर्षति सर्वकालान्निर्वाहके श्रेयसि नास्ति कालः।

बु, ९.३८

काल सदैव जगत् को खींचता रहता है। मोक्ष के सम्बन्ध में कोई निश्चित काल नहीं है।

४२८. जरायुधो व्याधिविकीर्णसायको यदान्तको व्याध इवाशिवः स्थितः।
प्रजामृगान् भाग्यवनाश्रितास्तुदन् वयः—प्रकर्षे प्रति को मनोरथः॥

बु, ११.६२

जबकि यमराज, अमंगल व्याध के समान जरारूप धनुष लिए हुए खड़ा है और व्याधिरूप बाणों को छोड़ता हुआ भाग्यरूप वन में रहने वाले प्रजारूप मृगों को वेध रहा है, तब बुढ़ापे के प्रति मनोरथ (प्रतीक्षा) क्या?

४२९. पच्यमानमिमं विश्वं विद्धि त्वं कालवह्निना।

बु, १८.१४

इस विश्व को काल—अग्नि में पकते हुए जानो।

४३०. काले पतति देवोऽपि मर्त्यलोकस्य का कथा।

बु, १९.२६

समय पर देवता भी गिर जाते हैं (फिर) मनुष्य का क्या कहना?

४३१. धरणी लीयते मेरुर्दह्यते प्रलयाग्निना।
काले शुष्यति सिन्धुश्च मर्त्यलोकस्य का कथा॥

बु, २०.३९

काल के प्रभाव से पृथ्वी विलीन हो जाती है, प्रलय की अग्नि से सुमेरु जल जाता है, समुद्र भी सूख जाता है (तो) मनुष्य प्राणी की क्या गिनती है

४३२. परिवर्तिनि संसारे कालभक्ष्यं कलेवरम्।

बु, २४.३७

परिवर्तनशील संसार में कलेवर (शरीर) काल का भोजन है।

४३३. विटपाः क्रकचैस्तीक्ष्णैर्भिद्यन्ते कालनोदिताः।
विनाशक्रकचैर्लोका दीर्यन्ते ह्यवशं तथा॥

बु, २५.१८

(जिस प्रकार) काल से प्रेरित वृक्ष तीक्ष्ण आरे से काटे जाते हैं, उसी प्रकार ये प्राणी विनाशरूप आरे से परवश चीरे जा रहे हैं।

४३४. काले च्युता देवा अपि ध्रुवम्।

बु, २५.७२

काल के प्रभाव से देवता भी (स्वर्ग से) च्युत होते हैं।

४३५. कदाचित्कस्यचित्कर्म निवर्तत प्रयत्नतः।
तथापि कालयोगात् पुनश्चयनसम्भवः॥

बु, २६.१५

कदाचित् प्रयत्न करने से किसी का कर्म निवृत्त हो भी जावे तथापि काल-योग से उसका पुनः संचय सम्भव है।

४३६. यशोऽर्थं विषयार्थं वा जिता येर्निखिला धरा।
तेऽपि भूपाः करालेन कालेन कवलीकृताः॥

बु, २८.२२

जिन्होंने विषय अथवा यश के लिए सारी पृथ्वी को जीता था वे राजा भी कराल काल के ग्रास हो गये।

४३७. ननाश रावणः सीतां गृहीत्वा कालरूपिणीम्।

बु, २८.३१

रावण कालरूपिणी सीता को ग्रहण करने से नष्ट हुआ।

क्रोध

४३८. अक्कोधेन जिने कोधं। (पा.)
अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्। (सं.)

धप, २२३

अक्रोध से क्रोध को जीतें।

४३९. ध्यायतो जायते रागः पुंसो वस्तुगुणान् यथा।
वस्तुदोषविमर्शेन तथा क्रोधोऽपि जायते॥

बु, २३.४५

वस्तु के गुणों का चिन्तन करने से, मनुष्य का वस्तु से जिस तरह राग होता है, उसी तरह वस्तु के दोष पर विचार करने पर क्रोध भी हो जाता है।

४४०. रागाधीनो न जायेत क्रोधं यो जेतुमिच्छति।
यथा धूम उदेत्यग्नेस्तथा क्रोधो हि रागतः॥

बु, २३.४६

जो क्रोध को जीतना चाहता हो वह राग के अधीन न होवे। जैसे अग्नि से धुँआ उठता है उसी तरह राग से क्रोध उत्पन्न होता है।

४४१. घनान्धकारश्चित्तस्य मैत्र्या मुख्यरिपुस्तथा।
मानापघातकः क्रोधश्चापमानकरः स्मृतः॥

बु, २३.४७

क्रोध, चित्त का घना अंधकार है। मित्रता का प्रधान शत्रु है। मान का घातक तथा अपमान का जनक है।

४४२. यः साधयति वै क्रोधमुन्मार्गं रथं यथा।
स सूतो बुद्धिमाँश्चान्यः खलोग्राही तु केवलम्॥

बु, २३.४९

जो क्रोध को उन्मार्गगामी रथ की तरह साधता है वह उत्तम सारथि माना जाता है। दूसरे केवल लगाम सम्हालने वाले हैं।

४४३. क्रोधं करोति यो मूढो रोधं तस्य न वेत्यलम्।
सधूमं प्रज्वलत्यन्त आर्द्रेन्धनमिवानिशम्॥

बु, २३.५०

जो मूढ़ क्रोध तो करता है किन्तु उसका निरोध बिल्कुल नहीं जानता है, वह गीली लकड़ी की तरह धुँआ सहित निरन्तर अन्दर ही अन्दर जलता है।

४४४. क्रोधाग्निः प्रथमं कर्तुर्हृदयं दंदहत्यलम्।
ततश्चान्यान् विवृद्धः सन् संतापयति वा न वा॥

बु, २३.५१

क्रोधाग्नि क्रोध करने वाले के हृदय को ही पहले खूब जलाती है, बाद में बढ़ने पर दूसरों को तपाती है अथवा नहीं भी तपाती है।

४४५. धर्मं यशश्च रूपं गुणाज्ज्ञानं च वैभवम्।
सर्वं नाशयति क्रोधो नास्ति क्रोधसमो रिपुः॥

बु, २६.५२

धर्म, यश, रूप, गुण, ज्ञान एवं वैभव— इन सबको क्रोध नष्ट कर देता है। अतः क्रोध के समान दूसरा शत्रु नहीं है।

४४६. प्रायेण खलुमन्दानाममर्षज्वलितं मनः।
यस्मिन्वस्तुनि तत्कीर्त्या तद्विशेषेण दहते॥

जामा, ८.१५

प्रायः (यह देखा गया है कि) मन्दबुद्धि लोगों का मन जिस वस्तु के प्रति क्रोध से जलने लगता है उस वस्तु की प्रशंसा सुनकर वह और भी अधिक प्रज्वलित हो उठता है।

४४७. रोषप्रसङ्गो हि मनः प्रमाथी धर्मोपमर्दाद्यशसम्ब हन्ता।

जामा, २१.१०

क्रोध का प्रसंग मन को क्षुब्ध कर देता है तथा धर्मकाय को नष्ट कर कीर्ति का विनाश कर देता है।

४४८. काष्ठाद्यथाग्निः परिमथ्यमानादुदेति तस्यैव पराभवाय।
मिथ्याविकल्पैः समुदीर्घमाणस्तथा नरस्यात्मवधाय रोषः॥

जामा, २१.२६

जैसे रगड़े जाने पर लकड़ी से पैदा हुई आग से वह लकड़ी ही जलकर नष्ट हो जाती है वैसे ही मनुष्य की मिथ्या धारणाओं से उत्पन्न क्रोध भी उस मनुष्य को मार डालता है।

४४९. दहनमिव विजृम्भमाणरौद्रं शमयति यो हृदयज्वरं न रोषम्।
लघुरयमिति ह्रीयतेऽस्य कीर्तिःकुमुदसखीव शशिप्रभा प्रभाते॥

जामा, २१.२७

जो व्यक्ति अग्नि की तरह बढ़ने वाले क्रोध और मानसिक सन्ताप को शान्त नहीं करता वह तुच्छ समझा जाता है। प्रातःकाल में कुमुदों की सखी चाँदनी की तरह उस व्यक्ति की कीर्ति भी नष्ट हो जाती है।

४५०. परजनदुरितान्यचिन्तयित्वा रिपुमिव पश्यति यस्तु रोषमेव।
विकसति नियमेन तस्य कीर्तिः शशिन इवाभिनवस्य मण्डलश्रीः॥

जामा, २१.२८

जो व्यक्ति दूसरों की बुराइयों की ओर ध्यान न देकर अपने क्रोध को ही शत्रु की भाँति समझता है उसका यश नियमितरूप से वैसे ही बढ़ता है जैसे नए चन्द्रमा की चाँदनी।

४५१. न भात्यलंकारगुणान्वितोऽपि क्रोधाग्निना संहतवर्णशोभः।
सरोषशल्ये हृदये च दुःखं महार्हशय्याङ्गतोऽपि शेते॥

जामा, २१.२९

उत्तम आभूषणों को धारण करने के बावजूद भी यदि मनुष्य क्रोध की अग्नि में जलता है तो उसके व्यक्तित्व की चमक फीकी पड़ जाती है और वह सौन्दर्य

खो देता है। मन में क्रोध का शूल चुभता रहे तो मनुष्य अत्यन्त मूल्यवान् बिछौने पर भी कष्टपूर्वक सोता है।

४५२. विस्मृत्य चात्मक्षमसिद्धिपक्षं रोषात्प्रयात्येव तदुत्पथेन।
निहीयते येन यशोऽर्थसिद्ध्या तामिस्रपक्षेन्दुरिवात्मलक्ष्म्या॥

जामा, २१.३०

क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य अपने कल्याणकारी पक्ष को भूलकर कुमार्ग पर चलने लगता है जिसके कारण उसके यश की उसी प्रकार हानि होती है जैसे कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की शोभा (निरन्तर घटती रहती है)।

४५३. क्रोधाच्च सात्मीकृतपापकर्मा शोचत्यपायेषु समाशतानि।
अतः परं किं रिपवश्च कुर्युस्तीव्रापकारोद्धतमन्यवोऽपि॥

जामा, २१.३२

क्रोध के कारण पापपूर्ण आचरण करने वाला मनुष्य सैकड़ों वर्षों तक कष्ट में पड़कर दुःखी होता है। बड़ी हानि को पाकर क्रोध करने वाला शत्रु भी इस (क्रोधजन्य पाप) से अधिक क्या बुरा कर सकता है?

४५४. अन्तः सप्तलः कोपोऽयम्।

जामा, २१.३३

यह क्रोध आन्तरिक शत्रु है।

४५५. रोषेण गच्छत्यनयप्रपातं निवार्यमाणोऽपि सुहृज्जनेन।
प्रायेण वैरस्य जडत्वमेति हिताहितावेक्षणमन्दबुद्धिः॥

जामा, २३.३१

मित्रों के द्वारा रोके जाने पर भी मनुष्य क्रोध के आवेश में (कुमार्गरूपी) अनीति के प्रपात पर (पतन हेतु) जाता है। अपने हित और अहित को समझने की उसकी बुद्धि, शत्रुभाव के कारण, प्रायः कुण्ठित हो जाती है।

४५६. क्रोधविनयाच्छत्रुनुपशमयति, वर्धयत्येव त्वन्यथा।

जामा, पृ. २५५, २६६

क्रोध को नियन्त्रित करके मनुष्य अपने शत्रुओं को नियन्त्रित करता है और ऐसा (क्रोध पर नियन्त्रण) न करके उन (शत्रुओं) को बढ़ाता ही है।

क्षमा

४५७. क्षमा हि परमा शक्तिः क्षमा हि परमं तपः।
धर्मस्य च क्षमा मूलं न हितं क्षमया समम्॥

बु, २६.५१

क्षमा ही परम शक्ति है, क्षमा ही परम तप है एवं क्षमा ही धर्म का मूल है। क्षमा के समान दूसरा हित (मित्र) नहीं है।

४५८. यथा समेत्य ज्वलितोऽपि पावकस्तटान्तसंसक्तजलां महानदीम्।
प्रशान्तिमायाति मनोज्वलस्तथा श्रितस्य लोकद्वितयक्षमां क्षमाम्॥

जामा, २८.२३

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि भी किनारे तक जल से भरी हुई महानदी में पहुँचकर शान्त हो जाती है उसी प्रकार उभयलोक में लाभ देने वाली क्षमा का आश्रय लेने से मानसिक सन्ताप भी शान्त हो जाता है।

४५९. इति क्षान्त्या पापं परिहरति तद्धेतुत्वभिभवा—
दतश्चायं वैरं न जनयति मैत्र्याश्रयबलात्।
प्रियः पूज्यश्चास्माद् भवति सुखभागेव च ततः
प्रयात्यन्ते च द्यां स्वगृहमिव पुण्याश्रयगुणात्॥

जामा, २८.२४

क्षमा के द्वारा पाप के मूल कारण को नष्ट करके मनुष्य (सहज ही) पाप (करने) से बच जाता है और मैत्री का आश्रय लेकर शत्रुभाव को उत्पन्न नहीं होने देता। क्षमाशील मनुष्य (सभी का) प्रिय, पूज्य और सुख का भागी होता है और अन्त में, पुण्य के प्रभाव से उसी तरह स्वर्ग को चला जाता है जैसे अपने घर जा रहा हो।

४६०. शुभस्वभावातिशयः प्रसिद्धः पुण्येन कीर्त्या च परा विवृद्धिः।
अतोयसम्पर्ककृता विशुद्धिस्तैर्गुणोषैश्च परा समृद्धिः॥

जामा, २८.२५

(क्षमा) सत्त्वभाव की पराकाष्ठा के रूप में प्रसिद्ध है, पुण्य और कीर्ति का चरम विकास है, जल के सम्पर्क के बिना उत्पन्न विशुद्धि है और विविध गुणों से प्राप्त परम समृद्धि है।

४६१. परोपरोषेषु सदानभिज्ञा व्यवस्थितिः सत्त्ववतां मनोज्ञा।
गुणाभिनिर्वीरितचारुसञ्ज्ञा क्षमेति लोकार्थकरी कृपाज्ञा॥

जामा, २८.२६

यह (क्षमा) सात्विक प्राणियों की सुन्दर स्थिरता है जो दूसरों के द्वारा पीड़ा पहुँचाने पर भी सदा उदासीन रहती है, गुणों के कारण ही इसका सुन्दर नाम क्षमा पड़ा है। यह लोक कल्याणकारिणी और दया से परिचित है।

४६२. अलङ्क्रियाशक्तिसमन्वितानां तपोधनानां बलसम्पदगूर्या।
व्यापाददावानलवारिधारा प्रेत्येह च क्षान्तिरनर्थशान्तिः॥

जामा, २८.२७

यह (क्षमा) बलवानों की शोभा है, तपस्वियों का श्रेष्ठ बल है, द्वेषरूपी दावानल के लिए (शीतल) जल की धारा है तथा इहलोक व परलोक में उपद्रवों को शान्त करती है।

४६३. क्षमामये वर्मणि सज्जनानां विकुण्ठिता दुर्जनवाक्यबाणाः।
प्रायः प्रशंसाकुसुमत्वमेत्य तत्कीर्तिमालावयवा भवन्ति॥

जामा, २८.२८

सज्जनों के क्षमारूप कवच पर दुर्जनों के वचनरूपी बाण व्यर्थ हो जाते हैं और प्रायः प्रशंसा के फूल बनकर उनकी कीर्तिमाला के अंग बन जाते हैं।

४६४. हन्तीति या धर्मविपक्षमायां प्राहुः सुखां चैव विमोक्षमायाम्।
तस्मान्न कुर्यात् क इव क्षमायां प्रयत्नमेकान्तहितक्षमायाम्॥

जामा, २८.२९

जो धर्म की शत्रु माया की हत्या करती है तथा जिसे मोक्ष-प्राप्ति का सरल उपाय कहा जाता है उस नियत हितकारिणी क्षमा को अपनाने के लिए कौन (सत्पुरुष) प्रयत्नशील नहीं होगा।

४६५. क्षमा हि शक्तस्य परं विभूषणं गुणानुरक्षानिपुणत्वसूचनात्।

जामा, २८.४५

क्षमा शक्तिशाली का उत्तम आभूषण है क्योंकि यह सूचना देती है कि (क्षमाशील) व्यक्ति सद्गुणों की रक्षा में निपुण है।

४६६. स्वभाव एव पापानां विनयोन्मार्गसंश्रयः।
अभ्यासात्तत्र च सतामुपकार इव क्षमा॥

जामा, ३३.५

विनय के विपरीत मार्ग पर चलना पापियों का स्वभाव ही होता है और अभ्यास के कारण उसे उपकार समझ कर क्षमा करना सज्जनों का स्वभाव होता है।

४६७. नित्यं क्षमायाश्च ननु क्षमायाः कालः परायत्ततया दुरापः।
परेण तस्मिन्नुपपादिते च तत्रैव कोपप्रणयक्रमः कः॥

जामा, ३३.१४

समुचित क्षमा का अवसर दूसरों के अधीन होता है। अतः वह नित्य सुलभ नहीं है। दूसरों के द्वारा उस (क्षमा) के अवसर के उत्पन्न किए जाने पर क्यों क्रोध किया जाय?

४६८. गुणेष्वबहुमानस्य दुर्जनस्याविनीतताम्।
क्षमानैभृत्यमत्यक्त्वा कः संकोचयितुं प्रभुः॥

जामा, ३३.१६

गुणों का सम्मान न करने वाले दुर्जन के अविनय को, क्षमा के बिना कौन दूर कर सकता है?

४६९. आसादनामपि सन्तस्तद्धितोपदेशेन प्रतिनुदन्ति क्षमापरिचयान् पारुष्येणेति।

जामा, पृ. ४०७

क्षमा के अभ्यस्त होने के कारण सत्पुरुष विपक्षी के प्रहार का सामना उसकी भलाई के उपदेश के द्वारा करते हैं, कटोरता के कारण नहीं।

४७०. सति क्षन्तव्ये क्षमा स्यान्नासतीत्यपकारिणमपि साधवो लाभविन बहु मन्यन्ते।

जामा, पृ. ४६८

जब कोई व्यक्ति क्षमा के योग्य हो, तभी क्षमा (—दान) के लिए अवसर मिलता है, अन्यथा नहीं— ऐसा समझते हुए सत्पुरुष अपकार करने वाले को भी लाभकारी मानकर आदर देते हैं।

४७१. क्षमापरिचयान् वैरबहुलो भवति, नावद्यबहुलो बहुजनप्रियो मनोज्ञश्चेति।

जामा, पृ. ४८२

क्षमा के अभ्यास से शत्रुता प्रायः नष्ट हो जाती है, निन्दा प्रायः नहीं होती है। क्षमाशील मनुष्य बहुजन—प्रिय और मनोहर होता है।

गृहस्थ

४७२. यस्सेते चतुरो धम्मा, सद्धस्स घरमेषिनो।

सच्चं धम्मा धिती चागो, स वे पेच्च न सोचति।

अस्मा लोका परं लोकं, स वे पेच्च न सोचति।

सुनि, १.१०.८

जिस श्रद्धालु, गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति, (—धैर्य) त्याग— ये चार बातें होती हैं, वह इस लोक से परलोक में जाकर, मरकर भी शोक नहीं करता है।

४७३. असमा बुभो दूरविहारवुत्तिनो, गिही दारपोसी अममो च सुब्बतो।

सुनि, १.१२.१४

स्त्री के पालन—पोषण में लीन गृहस्थ और व्रतधारी भिक्षु में कोई समता नहीं।

४७४. शरीरेण गृहं त्यक्त्वा य आस्ते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान् वनस्थोऽपि गृहस्थः स हि कथ्यते॥

बु, १६.११

शरीर से घर को त्याग कर, वन में रहते हुए भी जो मन से इन्द्रियों के विकारों का स्मरण करता रहता है, वह गृहस्थ ही कहा जाता है।

४७५. अभिमानविनाशाय यतन्ते गृहिणोऽपि वै।

बु., २६.५५

गृहस्थ भी अभिमान का नाश करने के लिए प्रयत्न करते हैं।

४७६. स्पृहयेत्परसंश्रिताय यः परिभूयात्मवशां स्वतन्त्रतां।
उपशान्तिपथे शिवे स्थितः स्पृहयेद्दोषवते गृहाय सः॥

सौ., ८.२८

जो अपने वश की स्वतन्त्रता का तिरस्कार करके दूसरे पर आश्रित होने की इच्छा करे— वह कल्याण में स्थित शान्ति के मार्ग पर दोष से युक्त गृह की इच्छा करे।

४७७. गृहस्थेन हि दुःशोधा दृष्टिर्विविधदृष्टिना।

सौ., १३.१८

गृहस्थ की अनेक दृष्टियाँ होती हैं। अतः उसके लिए दृष्टि का शोधन कठिन है।

४७८. गार्हस्थ्यमस्वास्थ्यम्।

जामा, १.६

गृहस्थजीवन रोग की तरह है।

४७९. परकर्मकरस्यापि स्वे निपानसुखा गृहाः।
किं पुनः सुखसम्प्राप्ताः समृद्धिज्वलितश्रियः॥

जामा, १८.९

दूसरों के काम (सेवा आदि) करने वाले (श्रमिक आदि) के लिए भी अपने घर सुखदायक जलाशय की तरह होते हैं। फिर सरलता से प्राप्त समृद्धि से सम्पन्न (भरे हुए) घरों की तो बात ही क्या?

४८०. सुखसञ्ज्ञां तु मा कार्षीः कदाचिद् गृहचारके।

जामा, १८.१०

(सच्चाई यह है कि) गृहस्थ—जीवन में सुख की सम्भावना (आशा) कभी—भी नहीं करनी चाहिये।

४८१. गार्हस्थ्यं महदस्वास्थ्यं सधनस्याधनस्य वा।
एकस्य रक्षणायासादितरस्यार्जनश्रमात्॥

जामा, १८.११

गृहस्थजीवन अत्यन्त अस्वास्थ्यकर है फिर चाहे कोई धनी (गृहस्थ) हो या निर्धन। क्योंकि एक (धनी गृहस्थ) को उस (अर्जित या प्राप्त धन) की रक्षा करने में कष्ट होता है तो दूसरे (निर्धन गृहस्थ) को उसको उपार्जित करने में।

४८२. यत्र नाम सुखं नैव सधनस्याधनस्य वा।
तत्राभिरतिसम्भोहः पापस्यैव फलोदयः॥

जामा, १८.१२

जिस (गृहस्थ जीवन) में धनी और निर्धन दोनों को ही सुख नहीं मिलता है उसमें अत्यन्त आसक्ति रखने से पाप के ही फलों की प्राप्ति होती है।

४८३. गृहानानीहमानस्य न चैवावदतो मृषा।
न चानिक्षिप्तदण्डस्य परेषामनिकुर्वतः॥

जामा, १८.१३

(जो व्यक्ति) इच्छाओं से रहित है और झूठ नहीं बोलता है, कभी किसी को दण्ड नहीं देता है और (समय आने पर) दूसरों को कष्ट नहीं दे सकता उसके लिए घर (अथवा गृहस्थ-जीवन) नहीं है।

४८४. यदि धर्ममुपैति नास्ति गेहमथ गेहाभिमुखः कुतोऽस्य धर्मः।
प्रशमैकरसो हि धर्ममार्गो गृहसिद्धिश्च पराक्रमक्रमेण॥

जामा, १८.१४

यदि कोई (मनुष्य) धर्म को प्राप्त करना चाहता है तो उसे घर नहीं मिलेगा और घर के सुखों की ओर बढ़ने वाले मनुष्य को धर्म कहाँ मिलेगा? क्योंकि धर्म का मार्ग एकमात्र शान्ति के आनन्द से ओत-प्रोत है और गृहस्थ जीवन की सफलता पराक्रम (भागदौड़, अशान्ति, अधर्म, दुस्साहस आदि) पर निर्भर है।

४८५. धर्मविरोधदूषितत्वाद् गृहवासं क इवात्मवान्मजेत।

जामा, १८.१५

जो गृहस्थ-जीवन धर्म-विरोधी होने के कारण दोषपूर्ण है उसे कौन आत्मज्ञानी पाना चाहेगा?

४८६. प्रायः समृद्ध्या मदमेति गेहे मानं कुलेनापि बलेन दर्पम्।
दुःखेन रोषं व्यसनेन दैन्यं तस्मिन्कदा स्यात्प्रशमावकाशः।

जामा, १८.१६

प्रायः देखा जाता है कि गृहस्थ-जीवन में सम्पत्ति पाकर मनुष्य घमण्डी बन जाता है, कुल का अभिमान करने लगता है, शक्ति पाकर दम्भी बन जाता है, दुःख या अपमान से क्रोधी बन जाता है और बुरी आदत के कारण दयनीय बन जाता है। अतः ऐसे (गृहस्थ जीवन) में शान्ति के लिए अवसर ही कहाँ है?

४८७. मदमानमोहभुजगोपलयं प्रशमाभिरामसुखविप्रलयम्।
क इवाश्रयेदभिमुखं विलयं बहुतीव्रदुःखनिलयं निलयम्॥

जामा, १८.२०

घर (गृहस्थ जीवन) मद, अभिमान और मोहरूपी सर्पों का निवासस्थान; शान्ति, विश्राम और सुख का विनाशक तथा अत्यन्त दारुण विपत्तियों का आश्रय-स्थान है। ऐसे सर्वनाश को सामने पाकर कौन (समझदार) मनुष्य इसका आश्रय लेगा?

४८८. प्रमादमदकन्दर्पलोभद्वेषास्पदे गृहे।
तद्विरुद्धस्य धर्मस्य कोऽवकाशपरिग्रहः॥

जामा, ३२.४४

घर (गृहस्थ-जीवन) तो असावधानी, अभिमान, काम-वासना, लोभ और द्वेष का निवास-स्थान है। धर्माचरण इस के विरुद्ध (इनसे भिन्न) है। अतः उसके लिए वहाँ (गृहस्थ-जीवन में) अवसर ही कहाँ?

४८९. विकृष्यमाणो बहुभिः कुकर्मभिः परिग्रहोपाजर्जनरक्षणाकुलः।
अशान्तचेता व्यसनोदयागमैः कदा गृहस्थः शममार्गमिष्यति॥

जामा, ३२.४५

अनेक दुष्कर्मों से घसीटा जाता हुआ, संग्रह, उपार्जन और संरक्षण से व्याकुल, सम्पत्ति और विपत्ति की प्राप्ति से (सदैव) अशान्तचित्त रहने वाला गृहस्थ कब शान्ति के मार्ग पर चलेगा?

४९०. तपोवनस्थानामप्यलङ्कारस्त्यागशौर्यं प्रागेव गृहस्थानामिति।

जामा, पृ. ७६, ९१

तपोवन में रहने वालों के लिए भी त्यागवीरता अलंकार है जबकि गृहस्थों के लिए तो यह पहले से है ही।

४९१. ...कुकार्यव्यासङ्गदोषसम्बाधं प्रमादास्पदभूतं धनार्जनरक्षणप्रसङ्ग-
व्याकुलमुपशमविरोधिव्यसनशरशतलक्ष्यभूतमपर्यन्तकर्मन्तानुष्ठान-
परिग्रहश्रममत्तुपिजनकं कृशास्वादं गार्हस्थ्यम्।

जामा, पृ. ७७

गृहस्थ जीवन तो बुरे कार्यों के प्रति आसक्ति के दोषों से घिरा हुआ, लापरवाही का घर, धन कमाने और उसकी रक्षा करने की चिन्ताओं से व्याप्त, (मन की सच्ची) शान्ति का विरोधी, सौ-सौ मुसीबतों के तीरों का लक्ष्य स्थान, अनन्त कर्मों को करने से होने वाली थकावट से भरा हुआ, कभी-भी सन्तोष न देने वाला तथा थोड़ा ही सुख देने वाला है।

४९२. शीलप्रशमप्रतिपक्षसम्बाधं गार्हस्थ्यम्।

जामा, पृ. २२२

गृहस्थ जीवन शील (सदाचार) और शान्ति (के मार्ग) में बाधक है।

४९३. अनेकदोषव्यसनोपसृष्टमर्थकामप्रधानत्वादनौपशमिकं रागद्वेष—
मोहामर्षसंरम्भमदमानमात्सर्यादिदोषरजसामापातं पातनं
हीधर्मपरिग्रहस्यायतनं लोभासद्ग्राहस्य कुकार्यसम्बाधात्वात्कृशा—
वकाशं धर्मस्यावेत्य गृहवासम्...।

जामा, पृ. ३६९

गृहस्थ—जीवन अनेक बुराइयों और विपत्तियों से ग्रस्त, अर्थ और काम की प्रधानता के कारण अशान्तिदायक, राग—द्वेष, मोह, क्रोध, मद, मान, ईर्ष्या आदि दोषों का स्थान, लज्जा और धर्म को विनष्ट करने वाला, लोभ और बुरे विचारों का आश्रय—स्थान तथा कुकार्यों से भरे होने के कारण धर्माचरण के लिए अत्यन्त कम अवसर वाला है।

चित्त

४९४. चित्तं दन्तं सुखावहम्। (पा.)

चित्तं दान्तं सुखावहम्। (सं.)

धप, ३५

वशीकृत चित्त सुखकारी होता है।

४९५. चित्तस्स दमथो साधु। (पा.)

चित्तस्य दमथः साधु। (सं.)

धप, ३५

चित्त का दमन श्रेयस्कर है।

४९६. चित्तं गुप्तं सुखावहम्। (पा.)

चित्तं गुप्तं सुखावहम्। (सं.)

धप, ३६

अच्छी तरह रक्षा किया हुआ चित्त सुखकारी होता है।

४९७. दुष्करं चित्तनिग्रहं।

लवि, १८.८२७

चित्त को वश में रखना अत्यन्त कठिन है।

४९८. आकाशः समतुल्यमानसा जिन भोन्ति।

लवि, २१.१०४४

जिनों का मन आकाश के सदृश (निर्लिप्त) होता है।

४९९. चित्तं हि मायोपम चञ्चलं च।

सुप्रसू., ६.७

चित्त माया के समान और चञ्चल है।

५००. चित्तादृते काष्ठसमं शरीरम्।

बु, ७.२७

चित्त के बिना शरीर लकड़ी के सदृश है।

५०१. सेनाङ्गानां यथाध्यक्ष इन्द्रियाणां तथा मनः।
तस्मिञ्जिते तु सर्वाणि चाक्षाणि विजितानि वै।

बु, २६.४०

जैसे सेना का एक अध्यक्ष (सेनापति) होता है, इसी तरह मन, इन्द्रियों का अध्यक्ष है। उस मन को जीत लेने पर सब इन्द्रियाँ विजित हो जाती हैं।

५०२. मर्कटा इव सर्वेषां मनो नैसर्गिकं चलम्।
युक्त्या भक्त्या च शक्त्या तत्साधयेत्सततं सुधीः॥

बु, २६.४१

सबका मन वानर की तरह स्वभाव से चञ्चल है। विद्वान् को चाहिये कि युक्ति, भक्ति और शक्ति से सदा उसको वश में करे।

५०३. गतयो विविधा हि चेतसां बहुगुह्यानि महाकुलानि च।

सौ., ८.६

चित्त की गतियाँ अनेक प्रकार की होती हैं तथा उनमें अत्यधिक व्याकुलता व अति गोपनीयता होती है।

५०४. आलोक्य चक्षुषा रूपं धातुमात्रे व्यवस्थितः।

सौ., १३.४२

आँखों से रूप को देखकर धातु मात्र में चित्त को व्यवस्थित करना चाहिये।

५०५. एकाग्रभूतस्य तथोर्मिभूताश्चित्तम्भसः क्षोभकरा वितर्काः।

सौ., १७.४५

एकाग्रता के स्वरूप वाला चित्तरूपी जल वितर्करूप लहरों से क्षुब्ध होता है।

५०६. चित्तशोधनमाचारं नियतं तावदाचरेत्।

बोधिच, ५.९७

चित्त को शुद्ध करने वाले आचारों का निश्चितरूप से पालन करना चाहिये।

जन्म-जरा

५०७. जर वीर्यपराक्रमवेगहरी।

लवि, १३.४६८

बुद्धौती वीर्य, पराक्रम और वेग को हर लेती है।

५०८. जर रूपसुरूपविरूपकरी जर तेजहरी बलस्थामहरी।

सह सौख्यहरी परिभावकरी जर मृत्युकरी जन ओजहरी॥

लवि, १३.४६९

बुढ़ापा तेज हर लेता है, बल-पौरुष हर लेता है, साथ में सुख हर लेता है, पराजय कर देता है। बुढ़ापा मौत ले आता है, बुढ़ापा ओज हर लेता है।

५०९. धनधान्यमहार्यक्षयान्तकरो परितापकरो सह व्याधिजरो।

लवि, १३.४७२

व्याधि और जरा (लोगों के) धन-धान्य को, महान् अर्थ को क्षय कर-कर के समाप्त कर डालती है। (अर्थात् उनकी धन-दौलत चिकित्सकों के हाथों चली जाती है और वे खाली हाथ हो जाते हैं) साथ ही यह बुरी तरह सताती (भी) रहती है।

५१०. सत्यां प्रवृत्तौ नियतश्च मृत्युः।

बु, ७.२३

जन्म होने पर मृत्यु निश्चित है।

५११. वयासि जीर्णानि विमर्शवन्ति धीराण्यवस्थानपरायणानि।

अल्पेन यत्नेन शमात्मकानि भवन्त्यगत्यैव च लज्जया च॥

बु. १०.३६

जरा-अवस्था विचारशील, धीर तथा स्थिर आश्रय वाली होती है। लाचारी तथा लज्जा के कारण थोड़े प्रयत्न से ही शान्ति प्राप्त होती है।

५१२. जनिरेव महददुःखम्।

बु, १६.५८

जन्म ही महान् दुःख है।

५१३. जन्ममृत्युजराव्याधिभिश्चतुर्भिर्नगोत्तमैः।
दुःखैः समावृता मूढा भ्रमन्ति विवशाः सदा॥

बु., २०.३५

जन्म, मृत्यु, जरा (वृद्धावस्था) तथा व्याधि— ये चारों पर्वत के समान दुःख हैं। इनसे घिरे हुए मूढ़ मनुष्य पराधीन होकर संसार में भटकते रहते हैं।

५१४. जरासमा नास्त्यमृजा प्रजानां।

सौ., ५.२७

प्राणियों के लिए वृद्धावस्था के समान कोई गन्दगी नहीं है।

५१५. जरासमो नास्ति शरीरिणां रिपुः।

सौ., ९.३३

वृद्धावस्था के समान प्राणियों का कोई शत्रु नहीं है।

५१६. तस्माज्जरादेर्व्यसनस्य मूलं समासतो दुःखमवेहि जन्म॥

सौ., १६.७

जरा आदि व्यसनों का मूल दुःख, संक्षेप में, जन्म को जानो।

५१७. सर्वापदां क्षेत्रमिदं हि जन्म।

सौ., १६.७

सभी आपदाओं का क्षेत्र (कारण) यह जन्म है।

५१८. बालिशो हि जन्मक्षयात् त्रासमिहाभ्युपैति।

सौ., १८.२६

मूर्ख व्यक्ति जन्म (जीवन) के क्षय से इस संसार में दुःखी होता है।

ज्ञान

५१९. तदुभयानि विजेय्य पण्डरानि, अज्ज्ञतं बहिद्वा च सुद्धिपञ्जो।
कण्हं सुक्कं उपातिवत्तो, पण्डितो तादि पवुच्चते तथता।

सुनि, ३.६.१७

जो शुद्ध प्रज्ञ भीतर और बाहर के विषयों पर विजय पाकर पुण्य तथा पाप के परे हो गया है वह स्थिर और स्थितात्मा पण्डित कहा जाता है।

५२०. अनुविच्च पपञ्चनामरूपं अज्ज्ञतं बहिद्वाच रोगमूलं।
सब्बरोगमूलबन्धना पमुत्तो, अनुविदितो तादि पवुच्चते तथता॥

सुनि, ३.६.२१

जो व्यक्ति भीतर और बाहर के रोगमूलरूपी नाम-रूप के बन्धन को जान गया है और जो सब रोगों के मूल बन्धन से मुक्त है वह स्थिर और स्थितात्मा अनुविदित कहा जाता है।

५२१. यदूनकं तं सणति, यं पूरं सन्तमेव तं।
अड्ढकुम्भूपमो बालो, रहदो पूरो व पण्डितो॥

सुनि, ३.११.४३

जिसमें कमी होती है वह शोर करता है, जो पूर्ण होता है, वह शान्त होता है। मूर्ख आधे भरे घड़े की तरह हैं किन्तु पण्डित भरे हुए जलाशय की भाँति।

५२२. न वेदगू दिट्ठिया न मुतिया, समानमेति न हि तम्मयो सो।
न कम्मना नोपि सुतेन नेय्यो, अनूपनीतो सो निवेसनेसु॥

सुनि, ४.९.१२

ज्ञानी पुरुष किसी दृष्टि या विचार के कारण अभिमान नहीं करता और न वह उससे लिप्त ही होता है। वह किसी कर्म विशेष या श्रुति के फेर में भी नहीं पड़ता, क्योंकि वह दृष्टियों के अधीन नहीं है।

५२३. स वे विद्वा स वेदगू, जत्वा धम्मं अनिस्सितो।
सम्मा सो लोके इरियानो, न पिहेतीध कस्सचि॥

सुनि, ४.१५.१३

वही विद्वान् है, वही ज्ञानी है, जो धर्म को जानकर अनासक्त है, किसी की स्पृहा नहीं करता है और सम्यक् रूप से लोक में विचरण करता है।

५२४. सो उभन्तमभिज्जाय, मज्झे मन्ता न लिप्पति।
तं ब्रूमि महापुररिसो ति, सो इध सिब्बनिमच्चगाति॥

सुनि, ५.३.३

वह ज्ञानी दोनों अन्तों को जानकर बीच में लिप्त नहीं होता। मैं उसे महापुरुष बताता हूँ, वही यहाँ तृष्णा के परे हो गया है।

५२५. अबलस्सं व सीधस्सो, हित्वा याति सुमेघसो। (पा.)
अबलाश्वमिव शीघ्राश्वो हित्वा याति सुमेघाः। (सं.)

धप, २९

सद्बुद्धि वाले व्यक्ति उसी प्रकार आगे बढ़ जाते हैं जैसे कमजोर घोड़े को छोड़कर द्रुतगामी घोड़ा।

५२६. अतिरोचति पज्जय, सम्भासबुद्धसावको॥ (पा.)
अतिरोचते प्रज्ञया सम्यक् सम्बुद्धश्रावकः। (सं.)

धप, ५९

सम्यक् सम्बुद्ध श्रावक प्रज्ञा के सहारे सुशोभित होता है।

५२७. अरियप्पवेदिते धम्मे, सदा रमति पण्डितो। (पा.)
आर्यप्रवेदिते धर्मे सदा रमते पण्डितः। (सं.)

धप, ७९

विद्वान् सदा ही श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा प्रचारित धर्म में रमता है।

५२८. अत्तानं दमयन्ति पण्डिता॥ (पा.)
आत्मानं दमयन्ति पण्डिताः॥ (सं.)

धप, ८०

पण्डित अपना (अपनी इच्छाओं का) ही दमन करते हैं।

५२९. सुखेन फुट्ठा अथवा दुःखेन, न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति। (पा.)
सुखेन स्पृष्टा अथवा दुःखेन नोच्चावच पण्डिता दर्शयन्ति॥ (सं.)

धप, ८३

सुख अथवा दुःख द्वारा प्रभावित होने पर भी विद्वान् गर्व या खिन्नता नहीं दिखाते।

५३०. यत्थारहन्तो विरहन्ति, तं भूमिं रामण्य्यकं। (पा.)
यत्रार्हन्तो विहरन्ति सा भूमिः रमणीयका। (सं.)

धप, ९८

जहाँ भी अर्हत् विहार करते हैं वह भूमि रमणीक है।

५३१. एकाहं जीवितं सेय्यो, पज्जावन्तस्स ज्ञायिनो॥ (पा.)
एकाहं जीवितं श्रेयः प्रज्ञावतो ध्यायिनः। (सं.)

धप, १११

प्रज्ञावान् और ध्यानी व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है।

५३२. एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो उदयव्ययं॥ (पा.)
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यत् उदयव्ययम्। (सं.)

धप, ११३

(संसार की) उत्पत्ति और विनाश को जानने वाले व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है।

५३३. दुल्लभो पुरिसाजज्जो। (पा.)
दुर्लभः पुरुषाजन्यो। (सं.)

धप, १९३

पुनः जन्म न लेने के योग्य (अर्थात् पूर्ण प्रबुद्ध) पुरुष दुर्लभ है।

५३४. खेमी अवैरी अभयो, पण्डितो ति पवुच्चति। (पा.)
क्षेमी अवैरी अभयः पण्डित इति प्रोच्यते। (सं.)

थप, २५८

(सबका) क्षेम चाहने वाला, वैर-रहित (और) निर्भय (व्यक्ति) ही पण्डित कहा जाता है।

५३५. धिक् पण्डितस्य पुरुषस्य रतिप्रसङ्गे।

लवि, १४.५५५

पण्डित पुरुष के (भोगविलासों में) रमने की आसक्तियों को धिक्कार है।

५३६. धिग् जीवितेन विदुषा नचिरस्थितेन।

लवि, १४.५५५

विद्वानों के (उस) जीवन को धिक्कार है (जो) चिरकाल तक नहीं ठहरता।

५३७. यस्य मानश्च मोहश्च मीमांसा च न विद्यते।

विलोमो यदि विद्वांसो नासौ शक्यश्चिकित्सतुं॥

लवि, २१.९५१

जिसमें अभिमान नहीं है, मोह नहीं है (जिसे दुनिया के झंझटों की) मीमांसा (=खोज-बीन) नहीं करनी है, (वह) चाहे (संसार के माया-जाल में) चतुर हो अथवा उससे उलटा (अर्थात् मूर्ख) हो, उसे संशय में नहीं डाला जा सकता।

५३८. जरां व्याधिं च मृत्युं च को हि जानन्सचेतनः।

स्वस्थस्तिष्ठेन्निषीदेद्वा शयेद्वा किं पुनर्हसेत्॥

बु, ४.५९

कौन सचेतन (बुद्धिमान) जरा, व्याधि एवं मृत्यु को जानता हुआ स्वस्थ (शांत) खड़ा, बैठा या सोया-रह सकता है, फिर हँस तो कैसे सकता है।

५३९. स्वर्गापवर्गौ हि विचार्य सम्यग् यस्यापवर्गे मतिरस्ति सोऽस्ति।

बु, ७.५२

स्वर्ग एवं अपवर्ग का सम्यक् विचार कर अपवर्ग में जिसकी मति है वही (विचारवान्) है।

५४०. कथं नु मोहायतनं नृपत्वं क्षमं प्रपतुं विदुषा नरेण।

सोद्वेगता यत्र मदः श्रमश्च परापचारेण च धर्मपीडा॥

बु, ९.४०

विद्वान् पुरुष के लिए मोह का भण्डार राज्यसत्ता स्वीकार करना कैसे उचित हो सकता है जिसमें उद्वेग, मद तथा श्रम है और दूसरों पर अत्याचार करने से धर्म में बाधा है।

५४१. बुधः परप्रत्ययतो हि को व्रजेज्जनोऽन्धकारेऽन्ध इवान्धदेशिकः॥

बु, ९.७४

अन्धा देशिक (गुरुवाला) अन्धा (शिष्य) के समान कौन विद्वान् दूसरों के विश्वास पर अन्धरे में चलेगा।

५४२. कृष्यादिभिः कर्मभिरर्दितानां कामात्मकानां च निशाम्य दुःखम्।
स्वास्थ्यं च कामेष्वकुतूहलानां कामान्विहातुं क्षममात्मवद्भिः॥

बु, ११.२०

कृषि आदि (विलष्ट) कर्मों से पीड़ित कामासक्त लोगों के दुःख देखकर एवं विषयों में अनासक्तों के स्वास्थ्य (सुख-शान्ति) देखकर ज्ञानी पुरुषों को काम का त्याग करना चाहिये।

५४३. तत्र सम्यङ् मतिर्विद्यान्मोक्षकाम! चतुष्टयम्।
प्रतिबुद्धाप्रबुद्धौ च व्यक्तमव्यक्तमेव च॥

बु, १२.४०

बुद्धिमानों को ये चार बातें सम्यक् (अच्छी तरह से) जानना चाहिये—
प्रतिबुद्ध, अप्रबुद्ध, व्यक्त एवं अव्यक्त।

५४४. आर्यस्य निर्वापयितुं न साधु प्रज्वाल्यमानस्तमसीव दीपः।

बु, १३.६३

अन्धरे में जलाये जा रहे दीप को बुझाना, आर्य पुरुषों के लिए अच्छा नहीं है।

५४५. क्षमाशिफो धैर्यविगाढमूलश्चारित्रपुष्पः स्मृतिबुद्धिशाखः।
ज्ञानद्रुमो धर्मफलप्रदाता नोत्पाटनं ह्यर्हति वर्धमानः॥

बु, १३.६५

क्षमारूप जटा, धैर्यरूप मजबूत मूल, चारित्ररूप पुष्प, स्मृति एवं बुद्धिरूप शाखा वाला तथा धर्मरूप फल देने के लिए बढ़ रहा 'ज्ञान-वृक्ष' उखाड़ने योग्य नहीं है।

५४६. काष्ठे वहनिस्तथा वायुर्व्योम्नि वारि भुवि ध्रुवम्।
उपदेशस्तथा काश्यां गयायां ज्ञानमक्षयम्॥

बु, १५.१६

जैसे काष्ठ में अग्नि, आकाश में वायु तथा पृथ्वी में जल का होना ध्रुव है, इसी तरह काशी में उपदेश और गया में ज्ञान-प्राप्ति ध्रुव है।

५४७. दारुस्थितो यथा वह्निर्भित्वा छित्वा न चाप्यते।
युक्त्यैव तु तथा ज्ञानं योगेनैवाधिगम्यते॥

बु, १५.३६

लकड़ी में स्थित अग्नि को चीर-फाड़ कर नहीं अपितु युक्ति (योग से) से प्राप्त किया जा सकता है। इसी तरह ज्ञान भी युक्ति (योग) से प्राप्त होता है।

५४८. दृष्टपूर्वफलं बीजं धीमान् वपति नान्यथा।

बु, २०.२६

बुद्धिमान लोग, जिसका फल पहिले देख लिया गया हो, वैसा बीज बोते हैं अन्यथा नहीं बोते।

५४९. सर्वाधिकं य आत्मानं मन्यते नावरं नरः।
क्षणिके जीवने मर्त्यो बुद्धिमान् न म कथ्यते॥

बु, २३.३३

जो मनुष्य क्षणिक जीवन-में अपने को सबसे बड़ा मानता है, छोटा नहीं समझता, वह बुद्धिमान् नहीं कहा जाता है।

५५०. शब्दज्ञानाद्येत्यर्थस्य ज्ञानं शास्त्रस्य दुर्लभम्।
संज्ञानं चापि केषाञ्चिन्न भवत्याकृतिं विना॥

बु, २५.४७

शब्द-ज्ञान के बिना शास्त्र का अर्थ-ज्ञान उसी तरह दुर्लभ है; जिस तरह आकृति के बिना पहिचान होना भी कठिन है।

५५१. स एव बुद्धिमाँल्लोके योऽर्थं गृह्णाति तत्त्वतः।

बु, २५.४८

संसार में वही बुद्धिमान् है जो तत्त्वतः पदार्थ को ग्रहण करता है।

५५२. प्रज्ञा दीपो भ्रमध्वान्ते व्याधीनामौषधं परम्।
प्लवो जन्मजरासिन्धौ शस्त्रं दोषतरोः स्मृतम्॥

बु, २६.७०

प्रज्ञा (ज्ञान) भ्रमरूप अंधकार में दीपक तथा व्याधियों की परम औषधि है और जन्म जरावस्थारूप समुद्र में नौका एवं दोषरूप वृक्ष का शस्त्र कहा गया है।

५५३. यस्य प्रज्ञामयं चक्षुश्चक्षुष्मान् स नरः स्मृतः॥

बु, २६.७१

जिसके प्रज्ञामय चक्षु हैं वही मनुष्य चक्षुष्मान् है।

५५४. प्रज्ञारसस्तृप्तिकरो रसेभ्यः।

सौ., ५.२४

रसों में प्रज्ञा रस तृप्तिकर है।

५५५. ज्ञानाय कृत्यं परमं क्रियाभ्यः।

सौ., ५.२५

ज्ञान के लिए किया जाने वाला कार्य श्रेष्ठ है।

५५६. प्रज्ञामयं वर्म बधान।

सौ., ५.३०

प्रज्ञामय कवच धारण करो।

५५७. वन्ध्यं हि शयनादायुः कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति।

सौ., १४.२८

कौन बुद्धिमान मनुष्य सो करके अल्पायु को नष्ट करता है?

५५८. क्षमं प्राज्ञस्य न स्वप्नुं निस्तितीर्षोर्महद्भयम्।

सौ., १४.२९

महान् निर्भयतास्वरूप ज्ञानी के लिए सोना उचित नहीं है।

५५९. प्रज्ञात्वशेषेण निहन्ति दोषाः।

सौ., १६.३६

प्रज्ञा दोषों को सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर देती है।

५६०. द्रष्टुं सुखं ज्ञानसमाप्तिकाले गुरुर्हि शिष्यस्य गुरोश्च शिष्यः।

सौ., १८.२

ज्ञान (विद्याभ्यास) की समाप्ति के समय गुरु का दर्शन शिष्य के लिए और शिष्य का दर्शन गुरु के लिए सुखकारी होता है।

५६१. प्रज्ञामयं यस्य हि नास्ति चक्षुश्चक्षुर्न तस्यास्ति सचक्षुषोजपि॥

सौ., १८.३६

जिस व्यक्ति के चक्षु प्रज्ञामय नहीं हैं वह नेत्रवान होते हुए भी नेत्र-रहित है।

५६२. मनसि शमदमात्मके विविक्ते मतिरिव कामसुखैः परीक्षकस्य।

सौ., १८.६०

चित्त के शम, दम और विवेकी होने पर दार्शनिक की बुद्धि काम-सुख में प्रवृत्त नहीं होती है।

तप

५६३. दुक्खवेपक्कं यदत्थि कम्मं, उद्धं अधो च तिरियं चापि मज्झे।
परिवज्जयित्वा परिज्जचारी, मायं मानमथो'पि लोभकोधं।
परियन्तमकासि नामरूप, तं परिब्बाजकमाहु पत्तिपत्तन्ति॥

सुनि, ३.६.२८

जो भूत, भविष्य तथा वर्तमान कालिक कर्म और माया, मान, लोभ तथा क्रोध को दूर कर विचारपूर्वक विचरता है, जिसने नाम-रूप का अन्त कर दिया है, प्राप्तव्य को प्राप्त कर लिया है उसे परिव्राजक कहा जाता है।

५६४. न हि पब्बजितो परुपघाती। (पा.)
न हि प्रव्रजितः परोपघाती। (सं.)

धप, १८४

प्रव्रजित अपकारी नहीं होता।

५६५. समगगानं तपो सुखो। (पा.)
समग्राणां तपः सुखम्। (सं.)

धप, १९४

एकीभूत हुए व्यक्तियों के लिए तप सुखदायी है।

५६६. दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं। (पा.)
दुष्प्रव्रज्यं दुरभिरामम्। (सं.)

धप, ३०२

दुष्प्रव्रज्या दुरभिरमणीय है।

५६७. सिथिलो हि परिब्बाजो भियो आकिरते रजं॥ (पा.)
शिथिलो हि परिव्राजको भूयं आकिरते रजः। (सं.)

धप, ३१३

शिथिल हुआ परिव्राजक धूल (ही) बिखेरता है।

५६८. पब्बाजयमत्तनो मलं, तस्मा पब्बजिताति बुच्चति। (पा.)
प्रव्राजयन् आत्मनो मलं तस्मात् प्रव्रजित इत्युच्यते। (सं.)

धप, ३८८

अपने मलों को हटाता है इसलिए प्रव्रजित कहा जाता है।

५६९. प्रव्रज्य नाम विदुभिः सततं प्रसस्ता।

लवि, १४.५५९

विद्वानों ने प्रव्रज्या की सदा प्रशंसा की है।

५७०. पुरुषस्य वयःसुखानि भुक्त्वा रमणीयो हि तपोवनप्रवेशः।

बु, ५.३३

युवावस्था का सुख भोग लेने पर मनुष्य का तपोवन में प्रवेश करना शोभा देता है।

५७१. दुःखात्मकं नैकविधं तपश्च स्वर्गप्रधानं तपसः फलं च।

बु, ७.२०

विविध प्रकार की तपस्याएँ दुःखरूप हैं और तपस्या का प्रमुख फल स्वर्ग है।

५७२. कायक्लमैर्यश्च तपोऽभिधानैः प्रवृत्तिमाकाङ्क्षति कामहेतोः।
संसारदोषानपरीक्षमाणो दुःखेन सोऽन्विच्छति दुःखमेव॥

बु, ७.२२

जो मनुष्य तपस्या नामक शारीरिक क्लेशों से विषयसुख के लिए कर्म की इच्छा करता है वह संसार के दोषों (जरामरणादिको) को न विचारता हुआ दुःख (नियम पालन) से दुःख (विषय) को ही चाहता है।

५७३. यस्तु व्रजति चित्तेन जितमोहो जितेन्द्रियः।
वपुषा चात्यजन् गेहं वनस्थः प्रोच्यते बुधैः॥

बु, १६.१२

जो व्यक्ति शरीर से घर को न छोड़कर भी, मोह को जीतकर मन से जितेन्द्रिय हो जाता है, उसे बुद्धिमान लोग (घर में रहने पर भी) वनस्थ कहते हैं।

५७४. निवसन्ति वने केचिज्जरायां जातु मानवाः।
योगकर्मण्यसक्तास्ते व्रतभङ्गात्पतन्त्यधः॥

बु, २०.५६

कोई-कोई लोग कदाचित् बुद्धापे में भी वन में निवास करते हैं, तब वे वहाँ योग कर्म में नहीं लगे रह सकते एवं अकर्मण्य हो जाते हैं; अतः व्रत के भंग हो जाने से उनका अधः पतन हो जाता है।

५७५. निराश्रयमनित्यं च दीनं दुःखाकरं खलु।
बुद्ध्वा लोकमसंक्ताः संवेगं मङ्क्षु गच्छतः॥

बु, २४.४७

इस लोक को आश्रयरहित, अनित्य, दीन एवं दुःख का आकर (खदान) समझकर, अनासक्त होकर बहुत शीघ्र संवेग (वैराग्य) प्राप्त करो।

५७६. जितात्मनः प्रव्रजनं हि साधु।

सौ., १८.२३

इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले व्यक्ति का संन्यासी बनना उचित है।

५७७. सुखोपपन्नान्परिभूय भोगाँच्छोकाकुलं बन्धुजनं च हित्वा।

न हेतुनाल्पेन हि यान्ति धीराः सुखोपरोधीनि तपोवनानि॥

जामा, ७.१०

(बिना विशेष प्रयास के) सरलता से प्राप्त भोगों को दुकराकर तथा वियोग के दुःख से दुःखी बान्धवों को छोड़कर धीर पुरुष किसी साधारण प्रयोजन से सुख-विरोधी तपोवन में नहीं जाते।

५७८. स्थाने प्रव्रजितान्कीर्तिरनुरक्तेव सेवते।

जामा, ७.१९

अनुरक्ता स्त्री की तरह कीर्ति संन्यासियों की सेवा करती है।

५७९. सन्तुष्टजनगेहे तु प्रविविक्तसुखे वने।

प्रसीदति यथा चेतस्त्रिदिवेऽपि तथा कुतः?॥

जामा, १८.२१

सन्तोषी प्रकृति वालों का निवास-स्थान तो वैराग्य के सुखों से परिपूर्ण तपोवन ही है। उस तपोवन में मन जितना आनन्द प्राप्त करता है उतना तो स्वर्ग में भी कहाँ?

५८०. अनभ्यासाद्विवेकस्य कामरागानुवर्तिनः।

प्रपातमिव मन्यन्ते प्रव्रज्यां प्रायशो जनाः॥

जामा, १९.७

वैराग्य का अभ्यास न होने के कारण जो लोग काम-आसक्ति के वशीभूत होते हैं वे प्रव्रज्या को प्रायः प्रपात के समान समझते हैं।

५८१. अनुत्सुको वनान्तेषु वसञ्छमपरायणः।

आरोपयति साधूनां गुणसम्भावनां हृदि॥

जामा, १९.८

जो (साधक) वन में वासना-रहित और शान्तिप्रिय होकर रहता है वह साधुओं के हृदय में, अपने गुणों के प्रति आदर-भाव उत्पन्न करता है।

५८२. द्वित्राणि मित्राणि भवन्त्यवश्यमापद्गतस्यापि सुनिर्गुणस्य।

सहाय एकोऽप्यतिदुर्लभस्तु गुणोदितस्यापि वनप्रयाणे।

जामा, २०.३१

गुणहीन व्यक्ति भी जब मुसीबत में पड़ता है तो उसके भी दो-तीन मित्र बन ही जाते हैं। किन्तु तपोवन में जाने के लिए गुणी व्यक्ति को एक भी साथी मिलना कठिन है।

५८३. श्मशानशून्यालयपर्वतेषु वनेषु च व्यालमृगाकुलेषु।
निकेतहीना यतयो वसन्ति यत्रैव चास्तं रविरभ्युपैति॥

जामा, २१.२

श्मशान, सूने घर, पहाड़ और हिंसक पशुओं से भरे जंगल में बेघर तपस्वी रहते हैं। वहीं (उनका) सूर्यास्त होता है।

५८४. वने तु संत्यक्तकुकार्यविस्तरः परिग्रहक्लेशविवर्जितः सुखी।
शमैककार्यः परितुष्टमानसः सुखं च धर्मं च यशांसि चाच्छति॥

जामा, ३२.४६

वन में, दुष्कर्मों को छोड़कर और संग्रह के कष्ट से मुक्त होकर मनुष्य सुखी होता है। वहाँ शान्ति ही उसका एकमात्र कार्य है। उसका चित्त सन्तुष्ट रहता है। वह सुख, धर्म और यश को पाता है।

५८५. प्रविवेकसुखरसज्ञानां विडम्बनेव विहिंसेव च कामाः
प्रतिकूल भवन्ति।

जामा, पृ०. २४३

जिन्होंने वैराग्य सुख के रस (आनन्द) को समझ लिया है (उसका अनुभव कर लिया है) उनके लिए काम-भोग, हिंसा और विडम्बना की तरह प्रतिकूल होते हैं।

५८६. राजलक्ष्मीरपि श्रेयोमार्गं नावृणोति सविग्नमानसानाम्।

जामा, पृ. ४५४

जिसके मन में संवेग (वैराग्य) का भाव उदित हो गया है उनके कल्याणमार्ग को राजलक्ष्मी भी नहीं रोक सकती।

५८७. आशुमरणसंज्ञा संवेगाय भवति।

जामा, पृ. ४६६

शीघ्र मरना है— यह ज्ञान वैराग्य को उत्पन्न करता है।

तृष्णा

५८८. तण्हा दुक्खस्स सम्भवं।

सुनि, ३.१२.१८

तृष्णा के कारण ही दुःख उत्पन्न होता है।

५८९. हीना नरा मच्चुमुखे लपन्ति, अवीततण्हासे भवाभवेसु।

सुनि, ४.२.५

सांसारिक तृष्णा में हीन नर मृत्यु के मुख में पड़कर विलाप करते हैं।

५९०. अनेजस्स विजानतो नत्थि काचि निसंखति।

सुनि, ४.१५.१९

तृष्णा-रहित ज्ञानी को कोई दुःख नहीं होता है।

५९१. उपधीनिदाना पभवन्ति दुक्खा, ये केचि लोकस्मिं अनेकरूपा।

सुनि, ५.५.२

संसार में जो अनेक प्रकार के दुःख हैं, वे तृष्णा के कारण उत्पन्न होते हैं।

५८२. तण्हकखयरतो होति, सम्मासम्बुद्धसावको। (पा.)

तृष्णाक्षयरतः भवति सम्यक्सम्बुद्धश्रावकः। (सं.)

धप, १८७

सम्यक् सम्बुद्ध (तथागत) का अनुयायी तृष्णा के क्षय में लगा रहता है।

५८३. तण्हाय जायती सोको, तण्हाय जायती भयं। (पा.)

तृष्णाया जायते शोकः तृष्णाया जायते भयम्। (सं.)

धप, २१६

तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है, तृष्णा से भय उत्पन्न होता है।

५८४. नत्थि तण्हासमा नदी। (पा.)

नास्ति तृष्णासमा नदी। (सं.)

धप, २५१

तृष्णा के समान नदी नहीं है।

५९५. मनुजस्स पमत्तचारिनो, तण्हा वड्ढति मालुवा विय॥ (पा.)

मनुजस्य प्रमत्तचारिणस्तृष्णा वर्धते मालुवेव। (सं.)

धप, ३३४

प्रमादयुक्त आचरण करने वाले मनुष्य की तृष्णा मालुवा लता के समान बढ़ती है।

५९६. तसिणाय पुरश्रृंखला पजा, परिसप्पन्ति ससो व बन्धितो। (पा.)

तृष्णया पुरस्कृताः प्रज्ञाः परिसर्पन्ति शश इव बाधितः। (सं.)

धप, ३४२, ४३

तृष्णा को आगे कर चलने वाले लोग बंधे हुए खरगोश की तरह इधर-उधर दौड़ते हैं।

५९७. तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति। (पा.)
तृष्णाक्षयः सर्वदुःखं जयति। (सं.)

घप, ३५४

तृष्णा का क्षय सब दुःखों को जीत लेता है।

५९८. तृष्णात सर्व उपजायति दुःखस्कन्धः।

लवि, २६.१४५६

तृष्णा से सब दुःख-स्कन्ध उत्पन्न होता है।

५९९. इदं कार्यमिदं कार्यमित्येवं बहुतृष्णया।
चिन्तोर्मिषु निमज्जन्ते वृद्धत्वे ते त्वहर्निशम्॥

बु, १४.३४

वृद्धावस्था में— यह करना है, वह करना है— इस प्रकार की अधिक तृष्णा के कारण निरन्तर चिन्तारूप तरंग में डूबते हैं।

६००. स्रोतो न तृष्णासममस्ति हरि।

सौ., ५.२८

तृष्णा के समान दूर ले जाने वाली कोई धारा नहीं है।

६०१. यावत्सतर्षः पुरुषो हि लोके तावत्समृद्धोऽपि सदा दरिद्रः।

सौ., १८.३०

जब तक मनुष्य में तृष्णा रहती है तब तक वह, इस संसार में, सम्पन्न होते हुए भी सदा दरिद्र है।

दान

६०२. यजस्सु यजमानो, सब्बत्थ च विप्पसादेहि चित्तं।

सुनि, ३.५.२०

दान दो और दान के समय सबके प्रति अपने मन को प्रसन्न रखो।

६०३. धीरो च दानं अनुमोदमानो तेनेव सो होति सुखी परत्थ। (पा.)
धीरश्च दानमनुमोदमानः तेनैव स भवति सुखी परत्र। (सं.)

घप, १७७

दान का अनुमोदन करता हुआ धैर्यशाली मनुष्य परलोक में भी सुखी होता है।

६०४. बाला ह वे न प्संसन्ति दानं। (पा.)
बाला ह वै न प्रशंसन्ति दानम्। (सं.)

धप, १७७

मूर्ख हैं वे जो दान की प्रशंसा नहीं करते हैं।

६०५. न वै कदरिया देवलोकं वजन्ति। (पा.)
न वै कदर्याः देवलोकं व्रजन्ति। (सं.)

धप, १७७

कजूस लोग देवलोक को नहीं जाते हैं।

६०६. जिने कदरियं दानेन। (पा.)
जयेत्कदर्यं दानेन। (सं.)

धप, २२३

दान से कृपण को जीतना चाहिये।

६०७. मच्छेरं ददतो मलं। (पा.)
मात्सर्यं ददतो मलम्। (सं.)

धप, २४२

कृपणता दानी का मल है।

६०८. सब्बदानं धम्मदानं जिनाति। (पा.)
सर्वदानं धर्मदानं जयति। (सं.)

धप, ३५४

धर्म का दान सब दानों में श्रेष्ठ है।

६०९. वीतरागेसु दिन्नं होति महप्फलं। (पा.)
वीतरागेषु दत्तं भवति महत्फलम्। (सं.)

धप, ३५६

वीतराग (भिक्षुओं) को दिया हुआ दान महान् फलवाला होता है।

६१०. वीतदोसेसु, दिन्नं होति महप्फलं। (पा.)
वीतद्वेषेषु दत्तं भवति महत्फलम्। (सं.)

धप, ३५७

द्वेषरहित (भिक्षुओं) को दिया हुआ दान महान् फलवाला होता है।

६११. वीतमोहेसु दिन्नं होति महप्फलं। (पा.)
वीतमोहेषु दत्तं भवति महत्फलम्। (सं.)

धप, ३५८

मोहरहित (भिक्षुओं) को दिया हुआ दान महान् फलवाला होता है।

६१२. विगतिच्छेसु, दिन्नं होति महफलं। (पा.)
विगतेच्छेषु दत्तं भवति महत्फलम्। (सं.)

धप, ३५९

इच्छारहित (निराकांक्ष भिक्षुओं) को दिया हुआ दान महान् फलवाला होता

है।

६१३. सचिन्वन्ति धनं ये वै स्वात्मार्थं ते हि दुर्जनाः।
महतां तु धनं नूनं परार्थायोपकल्पते।

बु, १५.१२

जो स्वार्थ के लिए धन संग्रह करते हैं वे दुर्जन हैं। महापुरुषों का धन तो निश्चय ही दूसरों के लिए संचित होता है।

६१४. दातारो न च ते दीनांस्तर्पयन्ति न ये धनैः।

बु, १५.१३

जो धन से गरीबों को तृप्त नहीं करते वे दाता नहीं हैं।

६१५. लोके यशः परत्रापि फलमुत्तमदानतः।
भवतीति परिज्ञाय धनं दीनाय दीयताम्॥

बु, १८.५

उत्तम (निष्काम) दान करने से लोक में उज्ज्वल यश तथा परलोक में उत्तम फल मिलता है— ऐसा समझकर दुःखियों को धन देना चाहिये।

६१६. तीर्थे धनस्य संत्यागात्फलं भवति निर्मलम्।

बु, १८.५८

तीर्थ (धर्म कार्य या स्थान) में धन का त्याग करने से निर्मल फल होता है।

६१७. दह्यमानाद् गृहाद्यावदुद्धृतं तद्धि रक्षितम्।
प्लुष्टं कालाग्निना द्रव्यं यावद्दत्तं तदेव सत्॥

बु, १८.६०

जलते हुए घर में से जो कुछ भी निकाल लिया गया वही बचा कहलाता है। इसी तरह काल—अग्नि में जलते हुए द्रव्यादि में से जितना दान दे दिया गया वही सुरक्षित रहता है।

६१८. दानमेवोत्तमं भोगं धनस्य मन्यते बुधः।
मूढा विषयभोगाय रक्षन्ति धनमधुवम्॥

बु, १८.६१

विद्वज्जन दान को ही धन का उत्तम भोग मानते हैं। मूढ़ लोग विषय-भोग के लिए नाशवान् धन की रक्षा करते हैं।

६१९. काले पात्रे कृतं दानं रणे वीरस्य युद्धवत्।

बु, १८.६२

समय पर उत्तम पात्र को दिया गया दान, संग्राम में वीर पुरुष के वीरता-पूर्वक लड़ने की भाँति है।

६२०. नित्यं दानरतोऽसक्तो दत्त्वा यश्च प्रमोदते।
जनसंपूजितस्यास्य कृतिनः सफलो भवः।

बु, १८.६३

जो प्राणी सदा अनासक्त होकर दानरत रहता है और देकर प्रसन्न होता है वह समाज में सम्मान का पात्र बनता है तथा उसका जीवन सफल है।

६२१. दानशीलः सुखी लोके दीर्घदुःखातिदूरगः।
कृतसत्कर्मपुण्येन चान्तकाले न मुह्यति॥

बु, १८.६४

दानशील प्राणी संसार में भयंकर विपत्तियों से अत्यन्त पृथक् एवं सुखी रहता है तथा दानरूप सत्कर्म के पुण्य से मृत्यु के समय मोह में नहीं पड़ता है।

६२२. इह किञ्चित्फलं चास्तु परत्र तु महत्फलम्।

बु, १८.६५

इस लोक में (दान का फल) चाहे कम हो, किन्तु परलोक में इसका महाफल होता है।

६२३. नहि दानेन सदृशं मित्रं लोकस्य विद्यते।

बु, १८.६५

इस संसार में दान से बढ़कर कोई मित्र नहीं है।

६२४. भोगास्तस्यानुगा दातुः स्वर्गश्च पुरतः स्थितः।
रक्षका देवतुल्यस्य शान्तिः शीलं क्षमा स्मृताः॥

बु, १८.६७

दानी देवता के समान है। भोग उसके पीछे चलता है। स्वर्गसुख, आगे खड़े रहते हैं। शान्ति, शील एवं क्षमा उसके रक्षक होते हैं।

६२५. अमृतत्वस्य हेतुस्तद्दानं क्षेत्रं सुखस्य च।
प्रमोदस्य निधिश्चित्तरोधस्य करणं स्मृतम्॥

बु, १८.६८

यह दान अमरता का हेतु है। सुख का क्षेत्र (उद्गम स्थान) है। आनन्द की निधि (खान) तथा चित्तनिरोध का असाधारण कारण है।

६२६. समुदयस्य विज्ञानं निरोधस्य च लभ्यते।
दानेन मलमन्तःस्थं दातुः संक्षीयते ध्रुवम्॥

बु, १८.६९

दान से समुदय (दुःख का हेतु) का तथा निरोध (दुःखनाश) का विज्ञान होता है तथा दाता का आन्तरिक मल अवश्य नष्ट होता है।

६२७. दानेनायात्यनासक्तिर्निर्मला धनकश्मलात्।
सस्नेहेन ददद्दाता क्रोधं जयति सत्वरम्॥

बु, १८.७०

दान करने से धन के पाप (अर्जन, रक्षण, व्यय आदि से होने वाले दुःख) के प्रति निर्मल अनासक्ति होती है। प्रेमपूर्वक देने वाला दाता तत्काल क्रोध को जीत लेता है।

६२८. ग्रहीतुः परमानन्दं पश्यन् यश्च प्रमोदते।
तस्य मोहतमो दातुराशु नश्यत्यशेषतः॥

बु, १८.७१

जो दाता ग्रहीता का परम आनन्द देखकर प्रसन्न होता है, उस दाता का सम्पूर्ण मोहरूप अज्ञान शीघ्र नष्ट हो जाता है।

६२९. निर्वाणसाधनस्यैकमङ्गं दानम्।

बु, १८.७२

दान, निर्वाण-साधन का एक प्रमुख अंग है।

६३०. शान्त्यर्थं वा धनार्थं वा दानमाश्रयते बुधः।

बु, १८.७३

विद्वान् शान्ति अथवा धन के लिए दान का आश्रय लेते हैं (दान करते हैं)।

६३१. सञ्चितस्यापि वित्तस्य पात्रे दानं तु रक्षणम्।

बु, १८.७४

सञ्चित किये गये धन को सत्पात्र को देना ही उसकी रक्षा है।

६३२. अन्नदानाद् बलं दत्तं सौन्दर्यं वस्त्रदानतः।
वासदानान्मुनिभ्यस्तु सर्वं दत्तं मतं भवेत्॥

बु, १८.७५

अन्न दान देने वाला बल देता है, वस्त्र देने वाला सौन्दर्य देता है, किन्तु मुनियों के लिए निवास देने से सब प्रकार का दान दिया, कहलाता है।

६३३. सुखं वाहनदानेन प्रकाशो दीपदानतः।
ज्ञानदानात्तु संदत्तमहार्यममृतं पदम्॥

बु, १८.७६

वाहन—दान से सुख मिलता है और दीप—दान से प्रकाश मिलता है। किन्तु ज्ञान—दान से कभी न मिटने वाला अमर पद प्राप्त होता है।

६३४. सुलभा धनदातारो धर्मदाता सुदुर्लभः।

बु, २८.५०

धनदाता तो सुलभ हैं (किन्तु) धर्मदाता अत्यन्त दुर्लभ हैं।

६३५. अदाने कुरुते बुद्धिं दास्यामीत्यभिधाय यः।
स लोभपाशं प्रभ्रष्टमात्मनि प्रतिमुञ्चति॥

जामा, २.२१

जो पुरुष 'दूँगा' ऐसा कहकर भी नहीं देने का विचार करता है वह उस लोभ—जाल को फिर धारण कर लेता है जिसे उसने पहले फेंक दिया था।

६३६. दास्यामीति प्रतिज्ञाय योऽन्यथा कुरुते मनः।
कार्पण्यानिश्वितमतेः कः स्यात्पापतरस्ततः॥

जामा, २.२२

'दूँगा' यह प्रतिज्ञा कर लेने के बाद जो अपना विचार बदल लेता है और जो कंजूसी के कारण अपनी (दान की) प्रतिज्ञा को तोड़ देता है उससे बढ़कर दूसरा पापी कौन होगा?

६३७. यदेव याच्येत तदेव दद्यानानीप्सितं प्रीणयतीह दत्तम्।

जामा, २.२५

जो वस्तु माँगी जाती है वही दी जानी चाहिये। याचक को जो वस्तु अभीष्ट नहीं है उसे देने से (किसी को भी) प्रसन्नता नहीं होती है।

६३८. को नाम लोके शिथिलादरः स्यात् कर्तुं धनेनार्थिजनप्रियाणि।

जामा, २.४६

ऐसा कौन पुरुष होगा जो धन से याचकों का कल्याण करने के प्रति उदासीन बनेगा?

६३९. परानुकम्पाविनयाभिजाताद् दानात्परः कोऽभ्युदयाभ्युपायः।

जामा, २.४८

विनम्रता और प्राणियों पर दया रखने से उत्पन्न होने वाले दान से बढ़कर लौकिक कल्याण का दूसरा कौन-सा उपाय हो सकता है?

६४०. अल्पस्यापि शुभस्य विस्तरमिमं दृष्ट्वा विपाकश्रियः
स्यात्को नाम न दानशीलविधिना पुण्यक्रियातत्परः।
नैव द्रष्टुमपि क्षमः स पुरुषः पर्याप्तवित्तोऽपि सन्
यः कार्पण्यतमिस्रयावृतमतिर्नाप्नोति दानैर्यशः॥

जामा, ३.१९

थोड़े-से भी सत्कर्म का इतना बड़ा सुन्दर फल मिलता है यह देखकर कौन मनुष्य ऐसा होगा जो दान और शील के द्वारा पुण्य कर्मों में तत्पर नहीं होगा? वह पुरुष दर्शन-योग्य भी नहीं है जो अपने पास पर्याप्त धन रहते हुए भी कंजूसी के अंधेरे से घिरा होने के कारण दान देकर यश प्राप्त नहीं कर रहा है।

६४१. त्यक्तव्यं विवशेन यन्न च तथा कस्मैचिदर्थाय यत्
तन्न्यायेन धनं त्यजन्यदि गुणं कञ्चित् समुद्भावयेत्।
कोऽसौ तत्र भजेत मत्सरपथं जानन्गुणानां रसं
प्रीत्याद्या विविधाश्च कीर्त्यनुसृता दानप्रतिष्ठागुणाः॥

जामा, ३.२०

जिसे विवश होकर (एक दिन) छोड़ना ही है और जो किसी (विशेष) काम का नहीं है (सारहीन) है ऐसे धन का उचित रीति से परित्याग (दान) करता हुआ यदि कोई (उसके बदले में) सदगुण को प्राप्त करे तो (ऐसी घटना को देख-सुनकर) भला कौन ऐसा, गुणों के रस को जानने वाला होगा जो कंजूसी के मार्ग पर चलेगा? दान में कीर्ति और प्रसन्नता आदि अनेक गुण रहते हैं।

६४२. दानं नाम महानिधानमनुगं चौराद्यसाधारणं
दानं मत्सरलोभदोषरजसः प्रक्षालनं चेतसः।
संसाराध्वपरिश्रमापनयनं दानं सुखं वाहनं
दानं नैकसुखोपधानसुमुखं सन्मित्रमात्यन्तिकम्॥

जामा, ३.२१

दान एक ऐसा बड़ा खजाना है जो सदा साथ रहता है और चोर (राजा, अग्नि, जल) आदि की पहुँच से दूर है। दान (ऐसा जल है जो) मानसिक कृपणता, द्वेष, लोभ, मोह आदि मलों को धोता है। दान संसार की यात्रा की थकावट को मिटाने वाला और सुखदायक वाहन है। दान एक आनन्ददायक सन्मित्र है जो अनेक प्रकार के सुखों को देता है।

६४३. विभवसमुदयं वा दीप्तमाज्ञागुणं वा
त्रिदशपुरनिवासं रूपशोभागुणं वा।
यदभिलषति सर्वं तत्समाप्नोति दाना—
दिति परिगणितार्थः को न दानानि दद्यात्॥

जामा, ३.२२

सम्पत्ति को बढ़ाना हो या अपने अधिकार-गुण को चमकाना हो, स्वर्ग में स्थान (निवास) पाना हो या सौन्दर्य-गुण की वृद्धि करना हो— (इच्छुक) पुरुष जिसे भी चाहे दान से पा सकता है। इस प्रकार की इच्छापूर्तियों को देखकर कौन (समझदार) व्यक्ति होगा जो दान नहीं करेगा?

६४४. सारादानं दानमाहुर्धनानामैश्वर्याणां दानमाहुर्निदानम्।
दानं श्रीमत्सज्जनत्वावदानं बाल्यप्रज्ञैः पांसुदानं सुदानम्॥

जामा, ३.२३

दान को सम्पत्ति का सार ग्रहण करना कहा गया है। दान ऐश्वर्य (प्राप्ति) का प्रथम कारण है। दान श्रीमानों की सज्जनता है, सत्कर्म है। साधारण बुद्धि वाले लोगों के द्वारा किया गया धूलि का (भी) दान अच्छा (प्रशंसनीय) दान है।

६४५. इच्छन्ति याज्वामरणेन गन्तुं दुःखस्य यस्य प्रतिकारमार्गम्।
तेनातुरान् कः कुलपुत्रमानी नास्तीति शुष्काशनिनाभिहन्यात्॥

जामा, ५.१२

जो मनुष्य याचनारूपी मृत्यु से जिस दुःख का अन्त करना चाहते हैं उस दुःख से पीड़ित याचकों को 'नहीं है' ऐसा कहकर कौन स्वाभिमानी कुलीन पुत्र अनप्राप्त वज्रपात से मारेगा?

६४६. विद्युल्लतानूतचले धने च साधारणे नैकविघातहेतौ।
दाने निदाने च सुखोदयानां मात्सर्यमार्यः क इवाश्रयेत्॥

जामा, ५.१५

धन तो बिजली की चमक के समान चञ्चल है, सबके लिए समान है और अनेक मुसीबतों का कारण है। किन्तु (इसके विपरीत) दान देना सुख-प्राप्ति का कारण है। (ऐसी वस्तुस्थिति में) कौन श्रेष्ठ पुरुष कंजूसी का सहारा लेगा?

६४७. अनार्यताप्यत्र च नाम का भवेन यत्प्रदद्या विभवेष्वाविषु।

जामा, ५.२१

धन न होने पर यदि आप दान नहीं देते हैं तो इससे आपका आचरण नीच या अनार्य नहीं हो जाएगा।

६४८. आत्मार्थः स्याद्यस्य गरीयान् परकार्यात्
तेनापि स्याद्देयमनाद्यस्य समृद्धिम्।
नैति प्रीतिं तां हि महत्यापि विभूत्या
दानैस्तुष्टिं लोभजयाद्यामुपभुङ्क्ते॥

जामा, ५.२२

जिसके लिए दूसरे के कार्य (हित) अधिक महत्त्वपूर्ण हैं उसके लिए भी समृद्धि की उपेक्षा करके दान देना उचित ही है क्योंकि अत्यधिक धन-दौलत (इकट्ठा करने) से भी उसे वह खुशी प्राप्त नहीं हो सकती जो खुशी लोभ पर विजय पाकर दान देने से प्राप्त होती है।

६४९. नैति स्वर्गं केवलया यच्च समृद्ध्या
दानेनैव ख्यातिमवाप्नोति च पुण्याम्।
मात्सर्यादीन्नाभिभवत्येव च दोषां—
स्तस्या हेतोर्दानमतः को न भजेत्॥

जामा, ५.२३

केवल समृद्धि (प्राप्त कर लेने) से न तो स्वर्ग मिलता है और न ही द्वेष या कंजूसी (जैसे) दुर्गुण नष्ट होते हैं। दान से ही पावन प्रसिद्धि प्राप्त होती है। अतः इस (प्रसिद्धि) के लिए कौन (समझदार) दान नहीं देगा?

६५०. सम्पत्तिरिव वित्तानामध्रुवा स्थितिरायुषः।
इति याचनकं लब्ध्वा न समृद्धिरवेक्ष्यते॥

जामा, ५.२५

यह जीवन धन-सम्पत्ति की तरह अस्थिर है। इसीलिए जब याचक सामने उपस्थित हो तो समृद्धि का विचार नहीं करना चाहिये।

६५१. यदस्ति यस्येप्सितसाधनं धनं स तन्नियुङ्क्तेऽर्थिसमागमोत्सवे।

जामा, ६.३०

जिसके पास जो उपयोगी धन होता है उसी (धन) से वह आए हुए अतिथि का सत्कार करता है।

६५२. दानाभिलाषः साधूनां कृपाभ्यासविवर्धितः।
नैति सङ्कोचदीनत्वं दुःखैः प्राणान्तिकैरपि॥

जामा, ७.८

दयालुता का (निरन्तर) अभ्यास करने से बढ़ी हुई सज्जनों की दान करने की इच्छा, प्राणघातक दुःखों (की उपस्थिति) में भी, कम नहीं होती है।

६५३. धने तनुत्वं क्रमशो गते वा भाग्यानुवृत्त्या क्षयमागते वा ।
विजृम्भमाणप्रणयः सुहृत्सु शोभेत न स्फीतधनः कृशेषु ॥

जामा, ८.३४

क्रमशः धन के कम होने पर अथवा भाग्य के चक्कर (दुर्भाग्य) से नष्ट हो जाने पर मित्रों पर प्रेम प्रकट किया जाय अर्थात् उनसे याचना की जाए तो कदाचित् यह शोभा दे (उचित हो सकता है) किन्तु विपुल सम्पत्ति रखने वाला यदि कम धन वाले मित्रों से मांगे तो यह उचित नहीं है।

६५४. न हितां कुरुते प्रीतिं विभूतिर्भवनाश्रिता ।
संक्रम्यमाणार्थिजने सैव दानप्रियस्य याम् ॥

जामा, ९.६

दानप्रिय पुरुष को घर में रखी हुई सम्पत्ति से उतना आनन्द प्राप्त नहीं होता जितना कि उस सम्पत्ति को याचकों को दान करने से होता है।

६५५. शीलवद्भ्यः सदा दद्याद्दानं सत्कारशीभरम् ।
तथा हि निहितं द्रव्यमहार्यमनुगामि च ॥

जामा, ९.२९

शीलवान् व्यक्तियों को सदा सत्कारपूर्वक दान देना चाहिये क्योंकि उस प्रकार रखा हुआ (दान किया हुआ) धन कभी-भी नष्ट नहीं होता है और (मरण के बाद) साथ जाता है।

६५६. महाहृदेष्वम्भ इवोपशोषं न दानधर्मः समुपैति सत्सु ।

जामा, ९.९२

जैसे बड़े-बड़े तालाबों का जल कभी नहीं सूखता है वैसे ही सत्पुरुषों का दान-धर्म भी कभी नहीं समाप्त होता है।

६५७. दानं नाम धनोदये सति जनो दत्ते तदाशावशः ।

जामा, १०.३५

धन की प्राप्ति होने पर लोग इस आशा से दान करते हैं कि और धन मिलेगा।

६५८. प्रियं हि दत्त्वा लभते परत्र प्रकर्षरम्याणि जनः प्रियाणि ।

जामा, १३.२९, पृ. १८३

प्रिय वस्तु देकर मनुष्य परलोक में अत्यधिक प्रिय और सुन्दर वस्तु को प्राप्त करता है।

६५९. अतिप्रदातुर्हि कियच्चिरं भवेत् धनेश्वरस्यापि धनेश्वरद्युतिः ।

जामा, ३१.२८, पृ. ४३३

यदि धनपति भी अतिदान करें तो उनकी लक्ष्मी भी कब तक टहरेगी?

६६०. चित्तप्रसादोद्गतं पात्रातिशयप्रतिपादितं च नाल्पकं नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वात्।

जामा, पृ. ३०

मन की प्रसन्नता से प्रेरणा पाकर अत्यन्त योग्य व्यक्ति को दिया गया, दान भी बड़ा फल देने वाला होने के कारण कम महत्त्व का नहीं है।

६६१. अत्ययमप्यविगणय्य दित्सन्ति सत्पुरुषाः।

जामा, पृ. ३९

सत्पुरुष अपनी विपत्ति की उपेक्षा करके (अर्थात् मुसीबत में रहते हुए भी अवसर आने पर) भी दान करना चाहते हैं।

६६२. केन नाम स्वस्थेन न दातव्यं स्यात्।

जामा, पृ. ४७

कौन ऐसा स्वस्थ मनुष्य होगा जो दान नहीं करेगा?

६६३. न विभवक्षयावेक्षया समृद्ध्याशया वा प्रदानवैधुर्यमुपयान्ति सत्पुरुषाः।

जामा, पृ. ४८

धन क्षीण हो जाने की चिन्ता से अथवा (और अधिक) समृद्धि (मिलेगी इस) की आशा से सज्जन दान करने से विरत नहीं हो जाते।

६६४. तिर्यगगतानामपि सतां महात्मनां शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्ट्या।
केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्यं स्यात्?

जामा, पृ. ६१

पशु-पक्षियों का जीवन धारण करने वाले भी भले और महात्मा (प्रकृति वाले प्राणी) अपनी शक्ति के अनुसार दान व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं। तब मनुष्य बना हुआ कौन प्राणी होगा जो दान नहीं करेगा? (अर्थात् मनुष्य को तो अवश्य ही दान करना चाहिये)।

दुःख-सुख

६६५. स्नेहन्वयं दुःखमिदं परोति।

सुनि, १.३.२

स्नेह के कारण दुःख उत्पन्न होता है।

६६६. निरत्था परिदेवना।

सुनि, ३.८.१२

विलाप करना व्यर्थ है।

६६७. दुःखं सङ्खारपच्चया

सुनि, ३.१२.८

संस्कारों के कारण दुःख होता है।

६६८. आरम्भानं निरोधेन, नत्थि दुःखस्स सम्भवो।

सुनि, ३.१२.२१

प्रयत्न के निरोध से दुःख की उत्पत्ति नहीं होती है।

६६९. इञ्जितानं निरोधेन, नत्थि दुःखस्स सम्भवो।

सुनि, ३.१२.२७

चञ्चलताओं के निरोध से दुःख की उत्पत्ति नहीं होती है।

६७०. यं परे दुःखतो आहु, तदरिया सुखतो विदु।

सुनि, ३.१२.३९

जिसे दूसरे लोग सुख कहते हैं, उसे आर्य लोग दुःख कहते हैं।

६७१. फस्सनिदानं सातं असातं।

सुनि, ४.११.९

स्पर्श के कारण सुख और दुःख वेदनाएँ होती हैं।

६७२. सुखो पुञ्जस्स उच्चयो। (पा.)

सुखः पुण्यस्योच्चयः। (सं.)

धप, ११८

पुण्यों का समुच्चय ही सुख है।

६७३. सुसुखं वत जीवाम, वेरिनेसु अवेरिनो। (पा.)

सुसुखं बत जीवामः वैरिषु अवैरिणः। (सं.)

धप, १९७

शत्रुओं में अशत्रुता का व्यवहार करने वाले वास्तव में सुखपूर्वक जीते हैं।

६७४. सुसुखं वत जीवामं, आतुरेसु अनातुरा। (पा.)

सुसुखं बत जीवामः आतुरेषु अनातुराः। (सं.)

धप, १९८

आतुर (व्याकुल) व्यक्तियों में अनातुर (उतावले या बदले की भावना से रहित होकर (हम) वास्तव में सुखपूर्वक जीते हैं।

६७५. सुसुखं वत जीवाम उस्सुकेसु अनुस्सुका। (पा.)

सुसुखं बत जीवामः उत्सुकेषु अनुत्सुकाः। (सं.)

धप, १९९

लालची व्यक्तियों में (हम) लालचरहित हो वास्तव में सुखपूर्वक जीते हैं।

६७६. सुसुखं वत जीवाम, येसं नो नत्थि किञ्चन। (पा.)
सुसुखं बत जीवामः येषां नो नास्ति किञ्चन। (सं.)

धप, २००

जिनका कुछ नहीं है वे वास्तव में सुखपूर्वक जीते हैं।

६७७. नत्थि खन्धसमा दुक्खा। (पा.)
न सन्ति स्कन्धसदृशाः दुःखाः। (सं.)

धप, २०२

स्कन्ध के समान दुःख नहीं हैं।

६७८. दुक्खो पापस्य उच्चयो। (पा.)
दुःखः पापस्योच्चयः। (सं.)

धप, ११७

पाप का समुच्चय ही दुःख है।

६७९. पियानं अदस्सनं दुक्खं अपियानं च दस्सनं। (पा.)
प्रियाणाम् अदर्शनं दुःखम् अप्रियाणां च दर्शनम्॥ (सं.)

धप, २१०

प्रियों का अदर्शन और अप्रियों का दर्शन दुःखद होता है।

६८०. दिशतो जायती सोको, पियतो जायती भयं। (पा.)
प्रियतो जायते शोकः प्रियतो जायते भयम्। (सं.)

धप, २१२

प्रिय से शोक उत्पन्न होता है, प्रिय से भय उत्पन्न होता है।

६८१. दुरावासा घरा दुखा। (पा.)
दुरावासं गृहं दुःखम्। (सं.)

धप, ३०२

न रहने योग्य घर में रहना दुःखद है।

६८२. दुक्खोऽसमानसंवासो। (पा.)
दुःखोऽसमानसंवासो। (सं.)

धप, ३०२

असमान लोगों का संवास दुःखद है।

६८३. ज्वलितं त्रिभवं जरव्याधिदुखैः।

लवि, १३.४५३

त्रिलोक जरा और रोग के दुःखों से जल रहा है।

६८४. सुखा विंरागता लोके।

लवि, २४.१३१०

लोक में वीतरागता सुख है।

६८५. स्कन्धा प्रतीत्य समुदेति हि दुःखमेवं संभोन्ति तृणसलिलेन विवर्धमाना।
मार्गेण धर्मसमताय विपश्यमाना अत्यन्तक्षीण क्षयधर्मतया निरुद्धाः॥

लवि, २६.१४५३

स्कन्धों के प्रत्यय से दुःख उत्पन्न होते हैं। (ये) उत्पन्न होते हैं (और) तृष्णा के पानी से बढ़ते हैं। धर्म-समता के मार्ग से देखे जाएँ तो (स्वभाव से) अत्यन्त क्षीण हैं, क्षय-धर्म होने के कारण निरुद्ध (से) हैं।

६८६. दुःखेन मार्गेण सुखं ह्युपैति सुखं हि धर्मस्य वदन्ति मूलम्।

बु, ७.१८

दुःख के मार्ग से सुख प्राप्त होता है (लोग) सुख को ही धर्म का मूल कहते हैं।

६८७. इहार्थमेके प्रविशन्ति खेदं स्वर्गार्थमन्ये श्रममाप्नुवन्ति।
सुखार्थमाशाकृपणोऽकृतार्थः पतत्यनर्थे खलु जीवलोकः॥

बु, ७.२४

कुछ तो इस लोक के लिए कष्ट सहते हैं, दूसरे स्वर्ग के लिए परिश्रम करते हैं। वास्तव में आशा से दीन-यह जीव लोक असफल होकर, सुख के लोभ से दुःख में गिरता है।

६८८. य एव भावा हि सुखं दिशन्ति त एव दुःखं पुनरावहन्ति।

बु, ११.४१

जो पदार्थ सुख देते हैं, वही पुनः दुःख देते हैं।

६८९. द्वन्द्वानि सर्वस्य यतः प्रसक्तान्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके।
अतोऽपि नैकान्तसुखोस्ति कश्चिनैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम्॥

बु, ११.४३

हानि एवं लाभ आदि द्वन्द्व सबके साथ चिपके हुए हैं। इसलिए भी संसार में न कोई पुरुष अत्यन्त सुखी है अथवा न अत्यन्त दुःखी।

६९०. नित्यं हसत्येव हि नैव राजा न चापि संतप्यत एव दासः।

बु, ११.४४

न तो राजा ही सदा हँसता है और न दास ही सदा सन्तप्त रहता है।

६९१. कष्टेन लब्धोऽपि देवलोको ह्यनिश्चितः।
दृश्यते क्षणिकश्चापि वियोगेन च दुःखदः॥

बु. १४.४२

कठिनाई से प्राप्त होने वाला वह देवलोक भी क्षणिक तथा अनिश्चित देखा जाता है तथा अवश्यम्भावी वियोग के कारण दुःखद है।

६९२. स्वर्गो जितेन्द्रियैर्यैश्च शाश्वतो हीति निश्चितः।
तेऽपि निपतिताश्चार्ता ध्वस्ताखिलमनोरथाः॥

बु. १४.४४

स्वर्ग शाश्वत है— ऐसा निश्चय करके जो जितेन्द्रिय लोग गये, उनके भी सब मनोरथ नष्ट हो गये और वे दुःखी होकर गिरे।

६९३. निरयेष्वातिबाहुल्यं मृगेषु भक्षणं मिथः।
प्रेतेषु क्षुत्पिपासा च तृष्णादुःखं नरेष्वलम्॥

बु. १४.४५

नरकों में बहुत पीड़ा है, पशुओं में परस्पर भक्षण होता है, प्रेतों में भूख व प्यास होती है तथा मनुष्यों में तृष्णा अत्यन्त दुःख है।

६९४. पुनर्जन्म पुनर्मृत्युरिह स्वर्गे च नारके।
सततं भ्रमतामित्थं जीवानां नास्ति वै सुखम्॥

बु. १४.४६

यहाँ स्वर्ग में एवं नरक में बारम्बार जन्म लेना एवं मरना इस प्रकार निरन्तर घूमने वाले जीवों को यथार्थ में सुख नहीं है।

६९५. जन्ममृत्युजराव्याधिसंयोगविप्रयोगजैः।
दुःखैरेते ध्रुवं सर्वे पीडयन्ते भुवि मानवाः॥

बु. १५.४७

जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग, अप्रिय का संयोग, प्रिय का वियोग आदि जायमान दुःख से संसार में सभी मनुष्य पीड़ित हैं।

६९६. भूवारिकालबीजानि चाङ्कुरस्य हि कारणम्।
कामरागोद्भवं कर्म तथा दुःखस्य कारणम्॥

बु., १५.४९

जैसे पृथ्वी, जल, काल और बीज, अंकुर के कारण हैं। इसी तरह काम और राग से उत्पन्न कर्म दुःख का कारण है।

६९७. जनिरिव महद् दुःखम्।

बु, १६.५८

जन्म ही बड़ा दुःख है।

६९८. सन्तापयति वै दुःखं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते॥

बु, १६.७४

दुःख उत्पन्न हो होकर सन्तप्त करते हैं और विलीन हो जाते हैं।

६९९. यदनित्यं तदेव त्वं दुःखं विद्धि तथामयम्।

अनित्येऽनात्मके देहे धातुजेऽस्मिन् कुतः सुखम्॥

बु, १८.१०

जो अनित्य है उसी को तुम दुःख एवं रोग जानो। धातु निर्मित अनात्म एवं अनित्य इस देह में सुख कहाँ मिल सकता है?

७००. ऐश्वर्यस्य सुखं लोके ससर्पगृहवासवत्।

बु, १९.२७

ऐश्वर्य का सुख तो संसार में, सर्प वाले घर में निवास के सदृश है।

७०१. गतिस्थितिक्रियाधारं शरीरं दुःखहेतुकम्।

बु, २०.४९

गति, स्थिति और क्रिया का आधार, शरीर दुःख का कारण है।

७०२. वासना जन्मनो बीजं दुःखं जन्मैव देहिनाम्।

अतो वासनया मुक्तः सर्वदुःखाद्विमुच्यते॥

बु, २०.५०

वासना ही जन्म का मूल कारण है और प्राणियों का जन्म लेना ही दुःख है; अतः वासना से मुक्त हुआ (व्यक्ति) सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

७०३. भोगानामसमीक्ष्यैव सेवनं दुःखकारणम्।

बु, २२.३५

बिना विचारे विषयों का उपभोग करना दुःख का कारण है।

७०४. वेदनाः सन्ति दुःखानि तत्तत्कारणसंभवाः।

इति पश्यति यः सोऽसौ सुखसंज्ञा जयत्युत॥

बु, २४.२८

तत्तत् कारणों से (कर्मानुसार) उत्पन्न वेदना है— ऐसा जो देखता है वह सुख की भाव—संज्ञा को जीत लेता है।

७०५. मध्यस्थता च चातुर्यं मन्त्रस्तन्त्रन्व धूर्तता।
कौटिल्यं सिद्धयश्चैव सर्वं चैतद्धि दुःखदम्॥

बु., २६.३२

मध्यस्थता करना, चतुराई, मंत्र, तंत्र, धूर्तता, कुटिलता तथा सिद्धियाँ— ये सब दुःखदायी हैं।

७०६. दोषशत्रुषु जाग्रत्सु कः स्वप्यात्सुखनिद्रया॥

बु., २६.४६

दोषरूपी शत्रु के जागते रहने पर कौन सुख की निद्रा से सो सकता है?

७०७. प्रधानमध्यात्मसुखं सुखेभ्यो।

सौ., ५.२४

सुखों में अध्यात्म सुख प्रधान है।

७०८. तथानपेक्षो जितलोकमोहो न दश्यते शोकभुजंगमेन।

सौ., ५.३१

लोक के मोह को जीतने वाला निरपेक्ष व्यक्ति शोकरूपी सर्प से नहीं डसा जाता है।

७०९. तथैव दुःखानि भवन्त्ययत्नतः सुखानि यत्नेन भवन्ति वा न वा॥

सौ., ९.३९

दुःख बिना प्रयत्न के प्राप्त होते हैं और सुख प्रयत्न करने पर प्राप्त हो भी सकते हैं और नहीं भी।

७१०. दुःखं न स्यात्सुखं मे स्यादिति प्रयतते जनः।
अत्यन्तदुःखोपरमं सुखं तच्च न बुध्यते॥

सौ., १२.२३

मुझे दुःख न मिले, सुख मिले— ऐसा सोचकर लोग (सुख पाने के लिए) प्रयत्न करते हैं किन्तु वे नहीं जानते कि अत्यधिक दुःख उठाने के बाद ही सुख प्राप्त होता है।

७११. इन्द्रियाणि ह्यगुप्तानि दुःखाय च भवाय च॥

सौ., १३.५४

इन्द्रियों की रक्षा न करने के कारण दुःख और जन्म का चक्र चलता है।

७१२. प्रदीप्ते जीवलोके हि मृत्युव्याधिजराग्निभिः।
कः शयीत निरुद्वेगः प्रदीप्त इव वेश्मनि॥

सौ., १४.३०

जैसे जलते हुए घर में कोई नहीं सो सकता है उसी प्रकार मृत्यु, रोग और जरा की अग्नियों से प्रज्वलित इस संसार में कौन व्यक्ति निश्चिन्त रहकर सो सकता है?

७१३. दुःखितेभ्यो हि मर्त्येभ्यो व्याधिमृत्युजरादिभिः।
आर्यः को दुःखमपरं सघृणो धातुमर्हति॥

सौ., १५.१५

सभी मनुष्य पहले ही जरा, रोग, मृत्यु आदि से दुःखी हैं। अतः कौन सत्पुरुष उनको और दुःख देना चाहेगा?

७१४. ऋतुचक्रनिवर्ताच्च क्षुत्पिपासाक्लमादपि।
सर्वत्रनियतं दुःखं न क्वचिद्विद्यते शिवम्॥

सौ., १५.४४

मौसम के बदलने और भूख, प्यास तथा थकान सर्वत्र होने के कारण दुःख निश्चित है, कहीं भी कल्याण नहीं है।

७१५. नास्ति काचिद्गतिलोके गतो यत्र न बाध्यते॥

सौ., १५.४७

इस संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ जाने पर दुःख न मिलता हो।

७१६. लोकस्याभ्याहतस्यास्य दुःखैः शारीरमानसैः।
क्षेमः कश्चिन्न देशोऽस्ति स्वस्थो यत्र गतो भवेत्॥

सौ., १५.४९

शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित लोगों के लिए ऐसा कोई सुखप्रद स्थान नहीं है जहाँ जाकर वे स्वस्थ हो सकें।

७१७. निर्वृत्तः को भवेत्कायं महाभूताश्रयं वहन्।
परस्परविरुद्धानामहीनामिव भाजनम्॥

सौ., १५.५६

साँपों की पिटारी के समान परस्पर विरुद्ध पाँच महाभूतों के आश्रय इस शरीर को वहन करते हुए कौन प्रसन्न रह सकता है।

७१८. दुःखक्षयो हेतुपरिक्षयाच्च।

सौ., १६.२६

हेतु-नाश से दुःख क्षय होता है।

७१९. यत्रेज्जितं स्पन्दितमस्ति तत्र यत्रास्ति च स्पन्दितमस्ति दुःखम्।
सौ., १७.५३
जहाँ विकार है वहाँ स्पन्दन है और जहाँ स्पन्दन है वहाँ दुःख है।

७२०. दुःखं हि शेते शयनेऽप्युदारे क्लेशाग्निना चेतसि दह्यमानः।
सौ., १८.२९
जिस व्यक्ति का हृदय क्लेशरूपी अग्नि से जलता रहता है वह उत्तम बिछौने पर भी दुःखी होकर ही सोता है।

७२१. दुःखमेवाभिधावन्ति दुःखनिःसरणाशया।
बोधिच, १.२८
दुःख से निकलने की इच्छा से दुःख की ओर ही दौड़ते हैं।

७२२. सर्वे हिताय कल्पन्ते आनुकूल्येन सेविताः।
सेव्यमानास्त्वमी क्लेशाः सुतरां दुःखकारकाः॥
बोधिच, ४.३३
सेवा करने पर सभी अनुकूल होकर हित-सम्पादन करते हैं किन्तु ये क्लेश सेवित होकर भी दुःख ही देते हैं।

७२३. दुःखेऽपि नैव चित्तस्य प्रसादं क्षोभयेद् बुधः।
बोधिच, ६.१९
बुद्धिमान् पुरुष दुःख में भी मन की प्रसन्नता में क्षोभ उत्पन्न नहीं होने देते।

७२४. मृतं दुण्डुभमासाध काकोऽपि गरुडायते।
आपदाबाधतेऽल्पापि मनो मे यदि दुर्बलम्॥
बोधिच, ७.५२
पानी में रहने वाले मृत सांप (डोंड़हा) को पाकर तो कौआ भी गरुड़ बन जाता है। यदि मेरा मन दुर्बल है तो छोटी मुसीबतें भी विकलता उत्पन्न कर देती हैं।

७२५. स्वसौख्यसङ्गेन परस्य दुःखमुपेक्ष्यते शक्तिपरिक्षयाद्वा।
जामा, १.२३
अपने सुख के प्रति आसक्ति से अथवा अपनी शक्ति के क्षीण हो जाने के कारण दूसरे के दुःख की उपेक्षा की जाती है।

७२६. पुनः पुनर्जातिरतीव दुःखं जराविपद्ब्याधिविरूपताञ्च।
जामा, ७.१२
बार-बार जन्म ग्रहण करना अत्यन्त दुःखकारक है क्योंकि जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, बीमारी और रूप को विकृत करने वाले हैं।

७२७. जीवितार्थेऽपि नायान्ति मनः क्षोभम् (अतो) बुधाः।

जामा, १९.१०

प्रज्ञावान् पुरुष प्राणों का संकट उपस्थित होने पर भी मन में दुःख का अनुभव नहीं करते हैं।

७२८. प्रायेण खलु लोकस्य प्राप्य साधारणं सुखम्।

स्मृतिः स्नेहानुसारेण पूर्वमेति सुहज्जनम्॥

जामा, २२.१८

लोग प्रायः सर्वसाधारण सुख को पाकर स्नेह के कारण पहले अपने बन्धुओं का स्मरण करते हैं।

७२९. किणाङ्कितानीव मनांसि दुःखैर्न हीनवर्गस्य तथा व्यथन्ते।

अदृष्टदुःखान्यतिसौकुमार्याद्यथोत्तमानां व्यसनागमेषु॥

जामा, २५.७

निम्न वर्ग के लोगों के मन दुःख के अभ्यस्त होने के कारण दुःख से उतने पीड़ित नहीं होते हैं जितने कि दुःख का दर्शन न करने वाले सुकुमार लोगों के मन विपत्ति के आने पर दुःखी होते हैं।

७३०. अह्यदुःखोदयपीतमानसाः पतन्ति चैवं व्यसनेषु मानुषाः।

प्रलोभ्यमानाः फलसम्पदाशया पतद्गमूर्खा इव दीपशोभया॥

जामा, २६.३३

जब दुःख असह्य हो जाते हैं तो मनुष्य का मन धैर्य से विचलित हो जाता है और (सुख या) सम्पत्ति पाने के लोभ में फँसकर (दुष्कर्म करते हुए) और अधिक विपत्ति में पड़ जाता है जैसे दीपक की शोभा से खिंचे हुए बुद्धिहीन पतंग (मुसीबत में पड़ जाते हैं)।

७३१. असंस्तुतस्याप्यविषह्यतीव्रमुपेक्षितुं दुःखमतीव दुःखम्।

प्रागेव भक्त्युन्मुखमानसस्य गतस्य बन्धुप्रियतां जनस्य॥

जामा, २७.१८, पृ. ३६५

अपरिचित व्यक्ति के असह्य और तीव्र दुःख की भी उपेक्षा करना कठिन है तब जो (अनुचर अपने स्वामी के प्रति) भक्तिभाव से भरा हुआ है और जो स्वजन के समान प्रिय हो गया है उसके दुःख का तो फिर कहना ही क्या अर्थात् वह तो सर्वथा असह्य है।

७३२. दुःखानुबन्धो हि सुखोचितानां भवत्यदीर्घोऽप्यविषह्य तीक्ष्णः।

जामा, २८, ६४

जो सुख के अभ्यस्त हैं उनके लिए अल्पकालिक दुःख भी तीक्ष्ण और असह्य होता है।

७३३. परस्य पीडाप्रणयेन यत्सुखं निवारणं स्यादसुखोदयस्य वा।
सुखार्थिनस्तन्न निषेवितुं क्षमं न तद्विपाको हि सुखप्रसिद्धये॥

जामा, ३३.१७

दूसरों को पीड़ा देने से जो सुख या दुःख का निवारण हो, सुख (सच्चा) चाहनेवाला उसका सेवन न करे, क्योंकि उसका परिणाम सुखदायक नहीं होता है।

७३४. नात्मदुःखेन तथा सन्तः सन्तप्यन्ते यथापकारिणां कुशलपक्षहान्या।

जामा, पृ. ३९८

सज्जन अपने दुःख से उतने दुःखी नहीं होते हैं, जितने बुरा करने वालों के कुशल पक्ष अर्थात् शुभ या कल्याण की हानि से (दुःखी होते हैं)।

७३५. परदुःखमेव दुःखं साधूनाम्।

जामा, पृ. ३४९

दूसरों का दुःख ही साधुओं का (अपना) दुःख है।

दृष्टि

७३६. एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो अमतं पदं। (पा)
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यतीऽमृतं पदम्। (सं.)

धप, ११४

अमृतपद को देखने वाले व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है।

७३७. भद्रो भद्रानि पस्सति। (पा)
भद्रो भद्राणि पश्यति। (सं.)

धप, १२०

भला आदमी भलाई (शुभकर्म) को देखता है।

७३८. मिच्छादिदिठसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं। (पा.)
मिथ्यादृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम्। (सं.)

धप, २२.३१६, १७, १८, १९

मिथ्यादृष्टि ग्रहण करने वाले प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

७३९. आत्मास्तीति मतं तात मिथ्यादृष्टिर्निगद्यते।
नास्तीति मतं सौम्य सम्यग्दृष्टिं विदुर्बुधाः॥

बु, १६.७६

(हे तात!) 'आत्मा है' इस मत को मिथ्यादृष्टि वाला और (हे सौम्य!) 'आत्मा नहीं है'— इस मत को बुद्धिमान् जनों ने सम्यग्दृष्टि (सम्पूर्ण दृष्टि) कहा है।

७४०. मिथ्यादृष्टिर्निबन्धाय सम्यग् दृष्टिर्विमुक्तये।

बु., १६.७७

मिथ्यादृष्टि बन्धन में डालती है और सम्यग् दृष्टि मुक्त कराती है।

७४१. मिथ्यादृष्टिर्गुणैर्बद्धश्चातत्त्वज्ञो विनश्यति।

बु., १८.१७

मिथ्यादृष्टि (संसार को सत्य समझने वाले) तथा गुणों (विषयों) से बँधे हुए और अज्ञानी नष्ट होते हैं।

७४२. शुभमान्तरिकं रूपं यः पश्यति स पश्यति॥

बु., २२.३१

जो शुद्ध और शुभ भीतरी रूप को देखता है, वही वस्तुतः देखने वाला है।

७४३. परदोषविचक्षणाः शठास्तदनार्याः प्रचरन्ति योषितः।

सौ., ८.३३

दूसरों के दोष देखने का कार्य मूर्ख और अनार्य स्त्रियाँ करती हैं।

७४४. द्रष्टव्यं भूततो भूतं यादृशं च यथा च यत्।

सौ., १३.४४

वस्तु को उसके यथार्थ स्वरूप में देखना चाहिये कि वह कैसी है और उसका कारण क्या है?

७४५. संवर्धन्ते ह्यकुशला वितर्काः संभृता हृदि।

अनर्थजनकास्तुल्यमात्मनश्च परस्य च॥

सौ., १५.२०

मन में अकुशल विचारों को धारण करने से वे बढ़ते जाते हैं तथा अपने और दूसरों के लिए समानरूप से अनर्थकारी होते हैं।

७४६. तद्वितर्कैरकुशलैर्नात्मानं हन्तुमर्हसि।

सौ., १५.२५

अकुशल वितर्कों से स्वयं को नष्ट मत करो।

७४७. न दोषतः पश्यति यो हि दोषं कस्तं ततो वारयितुं समर्थः।

सौ., १६.७५

जो व्यक्ति दोष को दोष के रूप में नहीं देखता है तो उसको उससे कौन हटा सकता है?

७४८. दृष्टिः.... शुभाशुभा वा सभागकर्मप्रतिपत्तिहेतुः।

दृष्ट्यन्वयं हि प्रविकल्प्य तत्तद्वाग्भिः क्रियाभिश्च विदर्शयन्ति॥

जामा, २३.५८, पृ. ३१३.

शुभ अथवा अशुभ दृष्टि अपने अनुरूप कर्म का हेतु है क्योंकि मनुष्य अपनी-अपनी दृष्टि को ही उन-उन वचनों और क्रियाओं के रूप में परिणत करके प्रदर्शित करते हैं (अर्थात् जिसकी जैसी दृष्टि होती है वह वैसी ही वाणी बोलता है, वैसा ही व्यवहार करता है)।

७४९. असद्दृष्टिरनर्थवृष्टिः।

जामा, २३.५९, पृ. ३१३

मिथ्या दृष्टि अनर्थ की वर्षा करने वाली है।

७५०. मिथ्यादृष्टिरननुयोगक्षमानुपाश्रयात्वादसेव्या।

जामा, पृ. ३१७

मिथ्या दृष्टि उत्तरशून्य (युक्तिहीन) और निराधार (अप्रामाणिक) है, अतः अनुकरणीय नहीं है।

७५१. अयुक्तवत्साध्वपि किञ्चिदीक्ष्यते प्रकाशतेऽसाध्वपि किञ्चिदन्यथा।

न कार्यतत्त्वं सहसैव लक्ष्यते विमर्शमप्राप्य विशेषहेतुभिः।

जामा, २८.४०, पृ. ३८२

(अस्वाभाविक मनः स्थिति में कभी-कभी) कुछ उचित भी अनुचित मालूम पड़ता है और कुछ अनुचित भी उचित मालूम पड़ता है। विशेष कारणों के साथ विचार किये बिना हठात् ही कर्तव्य की यथार्थता का ज्ञान नहीं होता है।

द्वेष

७५२. नत्थि दोससमो कलि। (पा.)

नास्ति द्वेषसमः कलिः। (सं.)

धप, २०२

द्वेष के समान पाप नहीं है।

७५३. नत्थि दोससमो गहो। (पा.)

नास्ति द्वेषसमो ग्रहः। (सं.)

धप, २५१

द्वेष के समान ग्रह नहीं है।

७५४. मा कुरुत जगे मनः प्रदोषं।

लवि, ५.१३२

जगत् के प्रति मन में द्वेष न करो।

७५५. न च द्वेषसमं पापम्।

बोधिच, ६.२

द्वेष के समान कोई पाप नहीं है।

धन

७५६. पतिरूपकारी धुरवा उदठता विन्दते धनम्।

सुनि, १.१०.७

उचित कार्य को करने वाला धैर्यवान् और परिश्रमी व्यक्ति धन पाता है।

७५७. धम्मचरियं, ब्रह्मचरियं, एतदाहु वसुत्तमं।

सुनि, २.६.१

धर्म का आचरण और ब्रह्मचर्य का पालन—इन्हें उत्तम धन कहा गया है।

७५८. एवं च च द्रव्यमवाप्य लोके मित्रेषु धर्मे च नियोजयन्ति।

अवाप्तसाराणि धनानि तेषां भ्रष्टानि नान्ते जनयन्ति तापम्।

बु, ११.५

धन पाकर मित्रों में एवं धर्म में लगाते हैं उनके वे सफल धन अन्त में नष्ट होने पर भी सन्ताप पैदा नहीं करते हैं।

७५९. चक्षुषा किं दरिद्रस्य पराभ्युदयसाक्षिणा।

जामा, २.२०, पृ. २०

गरीब मनुष्य को आँखों से क्या काम इससे तो दूसरों की उन्नति ही देखनी पड़ती है।

७६०. अर्थस्त्रिवर्गस्य विशेषहेतुः।

जामा, ४.६

अर्थ त्रिवर्ग (काम, धर्म और मोक्ष) को साधने का मुख्य कारण है।

७६१. निधीयमानः स नु धर्महितुश्चौरैः प्रसह्याथ विलुप्यमानः।

ओषोदरान्तर्विनिमग्नमूर्तिर्हुताशनस्याशनतां गतो वा॥

जामा, ४.१४, पृ. ४४

धर्म के कारणभूत उस धन को यदि कोश में सुरक्षित रखने का प्रयास किया जाय तो भी वह चोरों के द्वारा लूट लिया जाता है या जल के गर्भ में डूब जाता है या आग का भोजन बन जाता है।

७६२. शश्वत्कृशेनापि परिव्ययेण कालेन दृष्ट्वा क्षयमर्जनानाम्।
चयेन वाल्मीकसमुच्छ्रयाञ्च वृद्ध्यर्थिनः संयम एव पन्थाः॥

जामा, ५.१०, पृ. ५३

बहुत मात्रा में इकट्ठा किया गया धन भी थोड़ा-थोड़ा करके लगातार खर्च करने से एक दिन (समय आने पर) समाप्त हो जाता है और (थोड़ा-थोड़ा) सञ्चय करने से वल्मीक भी बड़े-बड़े स्तूप बन जाते हैं। यह सब समझते हुए चाहने वाले पुरुष को संयम (दान देने की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखना) आवश्यक है।

७६३. स्वबुद्धिस्पर्धसमाहितेन वा यशोऽनुकूलेन कुलोचितेन वा।
समृद्धिमाकृष्य शुभेन कर्मणा सपत्नतेजास्यभिभूय भानुवत्॥

जामा, ५.१८, पृ. ५६

मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी बुद्धि की शक्ति से यश के अनुकूल या कुल-परम्परा से चले आ रहे किसी अच्छे काम को करके धनवान् बने और शत्रु की शक्तियों को उसी प्रकार पराजित करे जैसे सूर्य (अपने विपक्षी अन्धकार को पराजित) करता है।

७६४. प्रयत्नलभ्या यदयत्ननाशिनी न तृप्तिसौख्याय कुतः प्रशान्तये।

जामा, ८.५३, पृ. ११०

प्रयत्न से प्राप्त होने वाली किन्तु बिना प्रयत्न के (अनायास ही) नष्ट हो जाने वाली इस भौतिक सम्पत्ति से सन्तोष का सुख नहीं मिलता, तब शान्ति कैसे मिलेगी।

७६५. स्वजनेऽपि निराक्रन्दमुत्सवेऽपि हतानन्दम्।
धिवप्रदानकथामन्दं दारिद्र्यमफलच्छन्दम्॥

जामा, १२.३, पृ. १६६

उस निर्धनता को धिक्कार है जो (मनुष्य को) बन्धु-बान्धवों के प्रति भी सहानुभूति-शून्य बना देती है, (आनन्दमय) उत्सवों में भी आनन्दरहित बना देती है, दान के प्रसंगों में उदासीन तथा इच्छाएँ पूरी करने में असफल बना देती है।

७६६. परिभवभवनं श्रमास्पदं सुखपरिवर्जितमत्यनूर्जितम्।
व्यसनमिव सदैव शोचनं धनविकलत्वमतीवदारुणम्॥

जामा, १२.४, पृ. १६६

गरीबी बड़ी भयंकर होती है। वह अपमान का घर, थकावट का स्थान, सुख-रहित, शक्ति से शून्य और मुसीबत की तरह सदा ही दुःख देने वाली होती है।

७६७. क्षुधमन्नं जलं तर्षं मन्त्रवाक्सागदा गदान्।
हन्ति दारिद्र्यदुःखं तु सन्तत्याराधनं धनम्॥

जामा, १२.५, पृ. १६७

अन्न (भोजन) भूख को, पानी प्यास को, औषध सहित मन्त्र बीमारी को तथा परम्परा द्वारा प्राप्त हुआ धन गरीबी के कष्ट को दूर करता है।

७६८. प्रतिग्रहकृशोपायं विप्राणां हि धनार्जनम्।

जामा, १२.७, पृ. १६७

ब्राह्मणों के लिए धन-संग्रह के उपाय बहुत सीमित हैं।

७६९. स्त्रीचञ्चलप्रेमगुणा हि लक्ष्मीः।

जामा, २७.३२, पृ. ३६७

लक्ष्मी (भी) स्त्री के समान ही अस्थिर प्रेम करने वाली होती है।

७७०. समर्थमर्थः परमं हि साधनं न तद्विरोधेन यतश्चरेत्प्रियम्।

नराधिपं श्रीर्न हि कोशसंपदा विवर्जितं वेशवधूरिवेक्षते॥

जामा, ३१.२९, पृ. ४३३

धन (साध्य प्राप्त करने का) एक साधन है, बड़ा शक्तिशाली साधन है। क्योंकि इसके बिना कोई अपना अभीष्ट सिद्ध नहीं कर सकता। राजलक्ष्मी, वेश्या के समान, खाली खजाने वाले राजा की ओर नहीं देखती।

७७१. न भैक्षोपहाराः कस्याचिद्दारिद्र्यक्षामतां क्षपयन्ति।

जामा, पृ. १६६

भिक्षा में पाए अन्न से गरीबी (स्थायी रूप से) दूर नहीं होती।

धर्म

७७२. सन्तिके न विजानन्ति, मगा धम्मस्स कोविदा।

सुनि, ३.१२.४०

धर्म को न जानने वाले लोग पास रहने पर भी सत्य नहीं जानते हैं।

७७३. नायं धम्मो सुसम्बुधो।

सुनि, ३.१२.४१

यह धर्म समझना आसान नहीं है।

७७४. सयमेव सो मेधकं आवहेय्य, परं वदं बालमसुद्धधम्मं॥

सुनि, ४.१२.१६

धर्म को मूर्ख और अशुद्ध बताने वाला व्यक्ति स्वयं कलह का आह्वान करता है।

७७५. सब्बेसु धम्मेषु समूहतेसु, समूहता वादपथा' पि सब्बे' ति।

सुनि, ५.७.८

सारे धर्मों के शान्त हो जाने पर सभी वादपथ भी शान्त हो जाते हैं।

७७६. मनोपुब्बंगमा धम्मा। (पा.)
मनः पूर्वङ्गमा धर्मा। (सं.)

धप, १

विचार सभी प्रकार के धर्मों के अग्रदूत हैं।

७७७. दीघो बालानं संसारो, सद्धम्म अविजानतं॥ (पा.)
दीर्घो बालानां संसारः सद्धर्मम् अविजानताम्। (सं.)

धप, ६०

सद्धर्म को न जानने वाले मूर्खों की संसार-यात्रा लम्बी होती है।

७७८. धम्मपीति सुखं सेति, विप्पसन्नेन चेतसा। (पा.)
धर्मपीती सुखं शेते विप्रसन्नेन चेतसा। (सं.)

धप, ७९

धर्मप्रिय प्रफुल्लित मन से सुखपूर्वक सोता है।

७७९. अत्तानं दमयन्ति सुब्बता॥ (पा.)
आत्मानं दमयन्ति सुव्रताः। (सं.)

धप, १४५

अच्छी प्रतिज्ञा (व्रत) वाले अपना ही दमन करते हैं।

७८०. सतं च धम्मो न जरं उपेति। (पा.)
सतां च धर्मो न जरामुपैति। (सं.)

धप, १५१

सन्तों का धर्म (कभी) बूढ़ा नहीं होता है।

७८१. धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परमिह च। (पा.)
धर्मचारी सुखं शेते अस्मिन् लोके परत्र च। (सं.)

धप, १६८

धर्म का आचरण करने वाला इस लोक में तथा परलोक में चैन से सोता है।

७८२. किच्छं सद्धम्मस्सवनं। (पा.)
कृच्छं सद्धर्मश्रवणम्। (सं.)

धप, १८२

सद्धर्म को सुनना भी कठिन है।

७८३. त तावता धम्मधरो, यावता बहु भासति। (पा.)
न तावता धर्मधरो यावता बहुभाषते। (सं.)

धप, २५९

जो मनुष्य जितना अधिक बोलता है (केवल इसी से) वह धर्मधर नहीं हो

जाता।

७८४. विरागो सेटठो धम्मानं। (पा.)
विरागः श्रेष्ठो धर्माणाम्। (सं.)

धप, २७३

धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है।

७८५. सब्बे धम्मा अनित्त्वा। (पा.)
सर्वे धर्मा अनात्मानः। (सं.)

धप, २७९

सभी धर्म अनित्य (अनात्म) हैं।

७८६. कयिरज्जे कयिराथेनं। (पा.)
कुर्यात् चेत् कुर्वीत तद्। (सं.)

धप, ३१३

जो करना चाहिए, उसे करो।

७८७. दुःखमनित्यमनात्मा निरीक्षथा योनिसो इमा धर्मा।
हेतु प्रत्यययुक्ता वर्तन्तेऽवामिका जडा बुद्धया॥

लवि, ४.६४

ये धर्म दुःख, अनित्य, अनात्म, हेतु-प्रत्यययुक्त, स्वामिरहित तथा बुद्धि से जड़ हैं।

७८८. न च वाक्यरुतरवेणा शक्याः संपादितुं कुशलधर्मान्।

लवि, ४.६७

कुशल धर्मों की सिद्धि बोलने, कहने तथा चिल्लाने से नहीं हो सकती।

७८९. न च तत्र वतिष्ठेथा न तत्र धर्मस्य अपराधः।

लवि, ४.७३

यदि धर्म पर स्थिर न रहो तो उसमें धर्म का अपराध नहीं।

७९०. ये मानगर्वित नरा गुरु तेषु शास्ता।

लवि, १५.६१३

जो लोग बड़े होने के अहंकार से भरे हैं, उनके लिए (धर्म के) शास्ता भारी हैं।

७९१. श्रेष्ठं च धर्मश्रवणं अष्टाक्षणविवर्जनं दुरापाः।

लवि, २६.१४३३

धर्म का श्रवण तथा आठ अक्षणों से मुक्त होना दुर्लभ है।

७९२. पृथिव्यां धर्मधायादाः दुर्लभास्तु न सन्ति वा॥

बु, ६.२०

इस पृथ्वी पर धर्म के उत्तराधिकारी दुर्लभ हैं अथवा नहीं ही हैं।

७९३. अकालो नास्ति धर्मस्य जीविते चञ्चले सति।

बु, ६.२१

जीवन चञ्चल (क्षण-भंगुर) होने से धर्म का कोई निर्धारित काल नहीं है।

७९४. धर्मार्थकामाधिगमं ह्यनूनं नृणामनूनं पुरुषार्थमाहुः॥

बु, १०.३०

धर्म, अर्थ एवं काम की सम्पूर्ण रूप से प्राप्ति ही मनुष्यों का सम्पूर्ण पुरुषार्थ कहा गया है।

७९५. यो गृह्णाति गुरोर्नाम तस्य धर्मो विनश्यति।

यथा पित्रोस्तिरस्कारात् संतत्या धर्मसंक्षयः॥

बु, १५.२९

जो गुरु को नाम लेकर पुकारता है, उसका धर्म नष्ट हो जाता है, जैसे माता-पिता का तिरस्कार करने से सन्तान का धर्म क्षय हो जाता है।

७९६. न लिङ्गं धर्मकारणम्।

बु, १६.१०

वेषादि (लिङ्ग) धर्म का कारण नहीं है (धार्मिक होने का प्रमाण नहीं है)।

७९७. मोहाद्धर्मपरित्यागात्स्वर्गे स्थानं न विद्यते॥

बु, २०.१७

मोह के कारण धर्म-त्याग करने से स्वर्ग में स्थान नहीं मिलता है।

७९८. धर्मेण पालयँल्लोकान् यशसे यत्नवान् भव॥

बु, २०.१९

धर्म से संसार का पालन करते हुए यश के लिए प्रयत्नशील होओ।

७९९. नोत्पीडय जनान् भद्र, नेन्द्रियाणि स्वतन्त्रय।

मा कुरु पापिनां सङ्गं मा देहि कुपथे मनः॥

बु, २०.२०

हे भद्र! लोगों को उत्पीड़ित न करो। इन्द्रियों को स्वतंत्र न छोड़ो। पापियों का साथ न करो। कुमार्ग में मन न लगाओ।

८००. माञ्जवमानय धर्मज्ञान् मा संपीडय तापसान्।
पापे मनो दधज्जातु व्रतं पूतं च मा चर॥

बु, २०.२१

धर्मज्ञों का अपमान न करो। तपस्वियों को पीड़ा न पहुँचाओ तथा पाप में मन लगाये हुए पवित्र व्रत मत करो।

८०१. भव मा चाशुभालम्बी कुकर्माचरणं त्यज।
मदालसश्च मा भूयाः...॥

बु, २०.२२

और अशुभ वासना का अवलम्ब (सहारा) न लो। कुत्सित कर्म का आचरण मत करो। मद से आलसी न बनो।

८०२. मा नाशय यशः शुभ्रं माऽसत्यं यातु ते मनः।

बु, २०.२३

उज्ज्वल यश का नाश न करो। तुम्हारा मन कभी-भी असत्य को स्वीकार न करे।

८०३. मन आधाय सद्धर्मे साधुसङ्गं समाचर।
जन्मन्यस्मिंस्तथा साध्यं यथा स्यात्परमं पदम्॥

बु, २०.२४

सद्धर्म (बुद्ध धर्म) में मन लगाकर साधुओं का सत्संग करो। इस जन्म में ऐसा साधन करना चाहिये जिससे परम पद मिल सके।

८०४. वीर्यं रक्षंस्तथा विद्यामर्जन् धैर्यं च धारयन्।
स्मरन् मृत्युं जितक्लेशः सन्मार्गमवलम्बय॥

बु, २०.२५

वीर्य (ब्रह्मचर्य) की रक्षा करते हुए तथा विद्या (ज्ञान) का उपार्जन करते हुए, धैर्य धारण करते हुए एवं मृत्यु का स्मरण करते हुए क्लेश (अविद्या आदि) को जीतकर सन्मार्ग का आश्रय लो।

८०५. कुलीनस्य पदस्थस्य मनो धर्माद्विशुद्ध्यति।
अकुलीनस्य नीचस्य पापात्तमसि लीयते॥

बु, २०.२६

उच्च कुल के और उच्च पद के प्राणी का मन धर्म से विशुद्ध होता है। नीच कुल के और नीच प्राणी का मन पाप के कारण अन्धकार (अज्ञान) में लीन होता है।

८०६. निपतन्ति यदा दुःखान्येतानि विवशे नरे।
नाप्यते प्रतिरोधश्चेद्धर्मो हि शरणं तदा॥

बु, २०.३६

जब ये दुःख परवश मनुष्य में आ पड़ते हैं, उस समय उनका निरोध (दुःखनाश का उपाय) नहीं सूझता है, तब धर्म ही एकमात्र शरण (रक्षक) होता है।

८०७. धर्म एव हि निश्चलः॥

बु, २०.३७

केवल धर्म ही अचल है।

८०८. यश्च धर्मरतो धीरश्चापि ख्याति-विवर्जितः।
अन्धकारे स्थितेऽप्यस्य चित्तं ज्योतिषि वर्तते।

बु, २२.२८

जो धीर पुरुष धर्म-परायण रहता है चाहे उसकी ख्याति न हो, वह चाहे अन्धकार में बैठा हो, उसका चित्त ज्योति में है।

८०९. विपन्नयोषितां धर्मे रोगिणां वा यतात्मनाम्।
रुचिर्बुद्धिमतां वापि जायते नात्र संशयः।

बु, २२.४२

आपत्तिग्रस्त स्त्रियों की, रोगियों की, संयमियों की तथा बुद्धिमान लोगों की रुचि धर्म में अवश्य होती है, इसमें सन्देह नहीं।

८१०. अनित्ये जीवलोके हि धर्म एव परं धनम्।

बु, २२.४४

इस अनित्य (अस्थायी) जीवलोक (संसार) में धर्म ही सर्वोत्तम धन है।

८११. आयुस्तु यौवनं हन्ति तथा मृत्युश्च जीवनम्।
रोगः शरीरमाहन्ति धर्महन्ता न विद्यते॥

बु, २२.४५

आयु बीतने पर यौवन नष्ट हो जाता है, मृत्यु आने पर जीवन नष्ट हो जाता है। रोग शरीर का नाश करता है। पर धर्म का नाश कोई नहीं कर सकता।

८१२. धर्ममार्गस्तु निश्चलः।

बु, २२.४६

(केवल) धर्म का मार्ग ही अटल है।

८१३. मानसस्य हि धर्मस्य भवस्थितिलयांश्च यः।
पश्यत्यसौ शान्तचेता न दृग्दोषेण लिप्यते॥

बु, २४.२७

मानस-धर्म (संकल्प) की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय को जो शान्त चित्त से देखता है वह दृष्टि-दोष से लिप्त नहीं होता है।

८१४. धर्मः शरणमेवातो गन्तव्यो धीमता द्रुतम्।

बु, २५. २६

बुद्धिमान् को चाहिये कि शीघ्रातिशीघ्र धर्म की शरण में चला जाए।

८१५. पवित्राणां वचो ग्राह्यं स धर्मो विनयश्च सः।

बु, २५.३९

पवित्रों का वचन ग्रहण करना चाहिये— वही धर्म और विनय है।

८१६. छित्त्वा भित्त्वा च संताप्य यथा रुक्मं परीक्षते।

धर्मो ज्ञेयो भवद्भिश्च सूत्राचारबलात्तथा॥

बु, २५.४४

जिस तरह छेदकर, भेदकर एवं तपाकर स्वर्ण की परीक्षा होती है, उसी तरह सूत्र एवं आचार-बल से धर्म की परीक्षा करनी चाहिये।

८१७. दर्शनं लब्धधर्मस्य पर्वेन्दोरिव दुर्लभम्।

बु, २६.२

सच्चे धार्मिक का दर्शन पार्वण चन्द्रमा की तरह दुर्लभ होता है।

८१८. छलं धर्मश्च द्वावेतौ परस्परमसंगतौ।

छलं लोकच्छलायैव धर्मो लोकहिताय हि॥

बु, २६.५६

छल और धर्म ये दोनों परस्पर असंगत (विरुद्ध) हैं। छल संसार को छलने के लिए तथा धर्म संसार के हित के लिए है।

८१९. आचरन्तु निजं धर्मं मा भवन्तु प्रमादिनः।

विहारे पर्वतेऽरण्ये यत्र कुत्र वसन्तु वा॥

बु, २६.७५

विहार में, पर्वत पर, वन में, जहाँ कहीं भी रहें, अपने धर्म का आचरण करें। प्रमादी न बनें।

८२०. धर्मच्युता हि धर्मेण योजनीयाः प्रयत्नतः।

एवं कुर्वन्ति ये धीरास्ते धर्मस्य हि भाजनम्॥

बु, २८.४९

धर्म से विमुख प्राणियों को प्रयत्न करके धर्म से जोड़ना चाहिये जो धीर पुरुष ऐसा करते हैं वे धर्म के भाजन होते हैं।

८२१. धर्माय खेदो गुणवान् श्रेमेभ्यः।

सौ., ५.२५

धर्म के लिए किया जाने वाला श्रमरूपी दुःख गुणकारी होता है।

८२२. धर्मं निर्गोरेवे स्वस्थे न शिरोवेष्टिते वदेत्।
सच्छत्रदण्डशस्त्रे च नावगुण्ठितमस्तके॥

बोधिच, ५.८८

सिर पर पगड़ी बांधे हुए, छत्र, दण्ड और शस्त्र धारण किये हुए, धर्म का गौरव न मानने वाले स्वस्थ व्यक्ति को धर्म का उपदेश नहीं देना चाहिये।

८२३. सुखानुलोम गुणबाधिनिक्रमे गुणानुकूले च सुखोपरोधिनि।
नरोऽपि तावद्गुणपक्षसंश्रयाद्विराजते किम्वथ तिर्यगाकृतिः॥

जामा, ६.४, पृ. ६२

सुख का रास्ता धर्म में बाधक है और धर्म का रास्ता सुख में बाधक है। धर्म के रास्ते का आश्रय लेकर जब मनुष्य भी शोभित होता है तो फिर पशु-पक्षी के बारे में तो कहना ही क्या?

८२४. अधर्मो बत जागर्ति धर्मः सुप्तोऽथवा मृतः।

जामा, ९.४२, पृ. १२७

जहाँ अधर्म जागृत है वहाँ धर्म सोया अथवा मरा हुआ है।

८२५. अहो विप्रकृष्टान्तरता सदसद्धर्मयोः।

जामा, ९.९५, पृ. १४२

आश्चर्य है! सज्जनों और दुर्जनों के धर्मों में बहुत भेद है।

८२६. कपालमादाय विवर्णवाससा वरं द्विषद्वेश्मसमृद्धिरीक्षिता।
व्यतीत्य लज्जां न तु धर्मवेशसे सुरेन्द्रतार्येऽप्युपसंहतं मनः॥

जामा, १२.१९, पृ. १७१

भिक्षा-पात्र लेकर और काषाय वस्त्र धारण करके दूसरों की समृद्धि देखना अच्छा है किन्तु लज्जा छोड़कर तथा धर्म का तिरस्कार करके इन्द्रत्व की प्राप्ति में मन लगाना अच्छा नहीं है।

८२७. निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशा।
तपः श्रुतज्ञानधनास्तु साधवो न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम्॥

जामा, १२.२०, पृ. १७१

मूर्ख भी किसी प्रकार का बहाना ढूँढकर अपने धर्म-मार्ग को छोड़ देते हैं। किन्तु तपस्या, विद्या और ज्ञान के धनी सत्पुरुष घोर संकट में भी विचलित नहीं होते।

८२८. लोकस्य यो नाद्रियतेऽपवादं धर्मानपेक्षः परतः फलं वा।
जनो न विश्वासमुपैति तस्मिन्धुवं च लक्ष्म्यापि विवर्ज्यते सः॥

जामा, १३.३४, पृ. १८४

जो व्यक्ति धर्म की उपेक्षा करते हुए लोक-निन्दा अथवा पारलौकिक फल का आदर नहीं करता, उस पर लोग भी विश्वास नहीं करते और निश्चय ही वह लक्ष्मी से भी वञ्चित होता है।

८२९. भ्रष्टाधिकारा बत लोकपाला न सन्ति वा मृत्युवशं गता वा।
न त्रातुमातानिति ये सयत्ता धर्मोऽपि मन्ये श्रुतिमात्रमेव॥

जामा, २१.१३, पृ. २६१

जो लोकपाल (लोक-रक्षक) पीड़ितों की रक्षा करने में प्रयत्नशील नहीं हैं वे अधिकारों से भ्रष्ट हैं, वे हैं ही नहीं (अर्थात् उनका होना न होने के समान है) अथवा वे मरे हुए हैं। धर्म (के उपदेश) भी केवल सुनने के लिए हैं (अर्थात् धर्मोपदेश का आचरण करते हुए कोई नहीं देखा जाता है)।

८३०. नीचैस्तरासनस्थानाद्विबोध्य विनयश्रियम्।
प्रीत्यर्पिताभ्यां चक्षुभ्यां वाङ्मध्वास्वादयन्निव॥
गौरवावर्जितैकाग्रप्रसन्नामलमानसः।
सत्कृत्य धर्मं शृणुयाद्विषग्वाक्यमिवातुरः॥

जामा, ३१.६९-७०, पृ. ४४५

निम्न आसन पर बैठकर, विनय से होने वाली शोभा (शान्ति) को धारण कर, आँखों को प्रीति-रस से भरकर, वचनरूप मधु का आस्वादन करते हुए श्रद्धालु, एकाग्र, प्रसन्न और निर्मल मन से आदरपूर्वक धर्म को वैसे ही सुने जैसे रोगी वैद्य के (चिकित्सा-सम्बन्धी) आदेशों को सुनता है।

८३१. नभश्च दूरे वसुधातलाच्च पारादवारं च महार्णवस्य।
अस्ताचलेन्द्रादुदयस्ततोऽपि धर्मः सतां दूरतरेऽसतां च।

जामा, ३१.७५, पृ. ४४७

आकाश पृथ्वी से दूर है, समुद्र के इस तीर से दूसरा किनारा दूर है, अस्ताचल से उदयाचल दूर है (किन्तु) सज्जनों का धर्म दुर्जनों के धर्म से और भी दूर है (इनमें कोई सम्बन्ध या सामन्जस्य नहीं है)।

८३२. धर्मश्च रक्षति नरं न धनं बलं वा धर्मः सुखाय महते न विभूतसिद्धिः।
धर्मात्मनश्च मुदमेव करोति मृत्युर्न ह्यस्ति दुर्गतिभयं निरतस्य धर्मे॥

जामा, ३२.४७, पृ. ४६६

धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है न कि धन या बल। धर्म से ही महासुख होता है, न कि सम्पत्ति की प्राप्ति से। मृत्यु तो धर्मात्मा को आनन्द ही देती है। धर्माचरण में रत रहने वाले व्यक्ति के लिए दुर्गति का भय नहीं है।

८३३. कृतश्चेद्धर्म इत्येव कस्तत्रानुशयः पुनः।
अथ प्रत्युपकारार्थमृणदानं न तत्कृतम्॥

जामा, ३४.१९, पृ. ४८०

यदि धर्म समझकर उपकार किया गया है तो (प्रत्युपकार न मिलने पर) पश्चाताप क्यों होना चाहिए? और यदि प्रत्युपकार के लिए (उपकार) किया था, तब वह ऋण देना उपकार नहीं।

८३४. उपकृतं किल वेत्ति न मे परस्तदपकारमिति प्रकरोति यः।
ननु विशोध्य गुणैः स यशस्तनुं द्विरदवृत्तिमभिप्रतिपद्यते॥

जामा, ३४.२०, पृ. ४८०

वह मेरे उपकार को नहीं मानता है, यह सोचकर यदि कोई (उस उपकृत के प्रति) उपकार करता है तो वह गुणों से अपने यशरूपी शरीर को शुद्ध करके भी हाथी की वृत्ति अपनाता है।

८३५. सत्कृत्य धर्मः श्रोतव्यः।

जामा, पृ. १३

श्रद्धापूर्वक धर्म को सुनना चाहिये।

८३६. धर्मो ह वै रक्षति धर्मचारिणाम्।

जामा, पृ. १६४

धर्मानुयायियों की रक्षा धर्म ही करता है।

८३७. धर्माश्रयं सत्यवचनमप्यापदं नुदति प्रागेव तत्फलमिति
धर्मानुवर्तिना भवितव्यम्।

जामा, पृ. १८८, २०२

धर्म का आश्रय लेकर कहा गया सत्य वचन भी मुसीबत को दूर करता है फिर धर्म का आचरण करने से जो फल मिलेगा उसका तो कहना ही क्या? अतः (मनुष्य) को धार्मिक अवश्य होना चाहिए।

८३८. कुशतृणमात्रास्तीर्णायां हि पृथिव्यां स्वभावकठिनायां निषण्णेन
स्वपता वा प्रतप्यमानशरीरेण न सुखं धर्मविधिरनुष्ठीयते।

जामा, पृ. ३०४

थोड़ी-सी घास से ढकी हुई पृथ्वी पर, जो स्वभावतः कठोर है, बैठकर या सोकर पीड़ित शरीर से सुखपूर्वक धर्मानुष्ठान नहीं किया जा सकता।

८३९. धर्मार्थिना तदनुरूपसमुदाचारसौष्ठवेन धर्मः श्रोतुं युक्तम्।

जामा, पृ. ४४४

धर्म-जिज्ञासु को समुचित आचार के साथ धर्म सुनना चाहिये।

धैर्य

८४०. निरयदुःखमतिच्च विरियवा सो।
सो विरियवा पधानवा, धीरो तादि पवुच्चते तथत्ता।

सुनि, ३.६.२२

जो सब पापों से विरत है, नरक के दुःख से मुक्त हो गया है, वह वीर्यवान् है। वह स्थिर और स्थितात्मा ही वीर्यवान्, पराक्रमी तथा धीर (=धैर्यवान्) कहा जाता है।

८४१. न लिप्पति सिद्धसुतेसु धीरो।

सुनि, ४.२.७

धीर पुरुष दृष्टियों तथा श्रुतियों में लिप्त नहीं होता।

८४२. फुसन्ति धीरा निब्बाणं, योगक्खेमं अनुत्तरं। (पा.)

स्पृशन्ति धीरा निर्वाणं योगक्षेममनुत्तरम्। (सं.)

धप, २३

धैर्यवान् व्यक्ति सर्वोत्तम कल्याणस्वरूप निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

८४३. नीयन्ति धीरा लोकम्हा, जेत्वा मारं सवाहिनिं। (पा.)

नीयन्ते धीरा लोकात्, जित्वा मारं सवाहिनीम्। (सं.)

धप, १७५

धैर्यशाली लोग सेना—सहित मार को जीतकर इस संसार से ले जाये जाते हैं।

८४४. बहुशो हि दृश्यते जराप्यधीरा धृतिमच्च यौवनम्।

बु, ११.६०

बहुधा देखा गया है कि वृद्धावस्था में अधीरता एवं युवावस्था में धैर्य रहता है।

८४५. न हि संभाव्यते धैर्यं मनसि स्नेहदुर्बले।

जामा, ९.८४, पृ. १४०

स्नेह के कारण दुर्बल बने मन में धैर्य का रहना संभव नहीं है।

८४६. धैर्यात्तु कार्यप्रतिपत्तिदक्षाः कृच्छ्राण्यकृच्छ्रेण समुत्तरन्ति।

जामा, १४.१०, पृ. १९३

जो मनुष्य कार्य करने में निपुण होते हैं वे धैर्य धारण करके विपत्तियों (के समुद्र) को बिना कष्ट के पार कर लेते हैं।

८४७. प्राज्ञस्य धैर्यज्वलितं हि तेजः सर्वार्थसिद्धिग्रहणाग्रहस्तः।

जामा, १४.११, पृ. १९३

बुद्धिमान् मनुष्य की धैर्यमयी तेजस्विता समस्त सिद्धियों को ग्रहण करने के लिए हाथ का अग्रभाग है।

८४८. प्रवर्तने हि दुःखस्य तिरस्कारे सुखस्य च।

धैर्यप्रयामः साधूनां विस्फुरन्निव गृह्यते॥

जामा, १९.९, पृ. २३५

दुःख का प्रादुर्भाव होने और सुख का तिरस्कार (विनाश) होने पर सज्जनों के उज्ज्वल धैर्य—विस्तार का परिचय मिलता है।

८४९. आपत्सु विफलं धैर्यं शोके श्रुतमपार्थकम्।
न हि तद्विद्यते भूतमाहतं यन्न कम्पते॥

जामा, ३१.१४, पृ. ४२९

विपत्ति में धैर्य नष्ट हो जाता है, दुःख में शास्त्रज्ञान व्यर्थ हो जाता है ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो (विपत्ति या दुःख से) पीड़ित होकर विचलित न होता हो।

नारी

८५०. मलित्थिया दुच्चरितं। (पा.)
मलं स्त्रियाः दुश्चरितं। (सं.)

धप, २४२

दुराचरण स्त्री का मल (अज्ञान) है।

८५१. ज्ञानविज्ञानशून्यानां योषित्सन्निध्यपेक्षया।
सशस्त्ररिपुसर्पणां सन्निधानं वरं स्मृतम्।

बु, २२.२२

ज्ञान और विज्ञान से रहित पुरुषों के लिए, स्त्री के निकट रहने की अपेक्षा शस्त्रधारी शत्रु अथवा साँप के पास रहना अधिक अच्छा है।

८५२. शयाना चोपविष्टा वा स्थिता वा गमनातुरा।
चित्रितापि बलान्नारी हरत्येव नृणां मनः॥

बु., २२.२३

सोती हो, चाहे बैठी हो, खड़ी हो अथवा जाती हो या चित्रखचित ही क्यों न हो, स्त्री हर दशा में पुरुषों के हृदय (मन) का हरण कर ही लेती है।

८५३. कृत्रिमैर्मण्डनैर्योषिद् दोषमाच्छाद्य चान्तरम्।
आहार्यैश्च गुणैर्मूढान् मोहे क्षिप्त्वा हिनस्ति तान्॥

बु, २२.२५

स्त्री बनावटी वेष-भूषा तथा बाहरी शोभा से अपने भीतरी दोषों को छिपा लेती है और ऊपरी दिखावटी गुणों से ही मूर्खों को मोह (भ्रम) में डालकर, उनको नष्ट कर देती है।

८५४. दुःखानात्मस्वरूपाश्चापूताऽनित्या हि योषितः।
इति प्रपश्यतां ज्ञानं न ताभिर्हियते मनः॥

बु, २२.२६

स्त्रियाँ दुःखमय, अनात्मस्वरूप, अपवित्र एवं अनित्य होती हैं— इस ज्ञान को समझने वालों के मन का हरण उनके (स्त्रियों के) द्वारा नहीं किया जा सकता है।

८५५. चञ्चलेन च चित्तेन लोलापाङ्गं स्त्रिया मुखम्।
पश्यतस्तप्तशल्येन वरं स्यात्स्वाक्षिदाहनम्॥

बु., २२.२९

चञ्चल चित्त से, चञ्चल नेत्रों वाली स्त्रियों के मुख को देखने वालों के लिये यह अधिक अच्छा है कि वे स्वयं को जलाने के स्थान पर तपे हुए सूजों से अपनी आँखों को जला डालें।

८५६. धर्मजिज्ञासा तरुणीनां सुदुर्लभा।

बु., २२.४१

युवती स्त्रियों में धर्म की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) बहुत कठिनाई से होती है।

८५७. विषयैकरसे लोके स्वभावाच्चपलेन्द्रियाः।
धर्मभावं तरुण्यश्चेत्पुष्पान्तीति विलक्षणम्॥

बु., २२.४३

स्वभाव से ही चञ्चल इन्द्रियों वाली युवती स्त्रियाँ, यदि विषय भोग से भरे-पूरे इस संसार में धार्मिक कार्यों का भी पोषण करती हैं तो यह आश्चर्य की बात है।

८५८. कः स्त्रीनिमित्तं न चलेदिहान्यः।

सौ., ७.२७

कौन स्त्री के लिए इस संसार में विचलित नहीं होगा।

८५९. सविषा इव सश्रिता लताः परिमृष्टा इव सोरगा गुहाः।
विवृता इव चासयो धृता व्यसनान्ता हि भवन्ति योषितः॥

सौ., ८.३१

जैसे विषयुक्त लता का स्पर्श करने से, सर्पयुक्त गुफा को साफ करने से, खुली तलवार को धारण करने से विपत्ति होती है, उसी प्रकार स्त्रियों के (स्पर्श का) फल विपत्ति होता है।

८६०. प्रमदाः समदा मदप्रदा प्रमदा वीतमदा भयप्रदाः।
इति दोषभयावहाश्च ताः कथमर्हन्ति निषेवणं नु ताः॥

सौ., ८.३२

मदयुक्त युवतियाँ मद प्रदान करने वाली होती हैं और वे युवतियाँ मद के समाप्त होने पर भय उत्पन्न करने वाली हो जाती हैं, इस प्रकार उस दोष और भय को उत्पन्न करने वाली उन स्त्रियों को कैसे सेवन के योग्य बनाया जाय?

८६१. मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये हलाहलं महद्विषम्।

सौ., ८.३५

स्त्रियों की वाणी में मधु और हृदय में हलाहल महाविष रहता है।

८६२. प्रमदानां तु मनो न गृह्यते।

सौ., ८.३६

स्त्रियों के मन को नहीं समझा जा सकता।

८६३. न वचो मधुरं न लालनं स्मरति स्त्री न च सौहृदं क्वचित्।

सौ., ८.३८

स्त्री न मधुर वाणी को, न लालन-पालन को और न किसी मित्रता को मानती है।

८६४. कलिता वनितैव चञ्चला।

सौ., ८.३८

शिक्षित स्त्री चञ्चल होती है।

८६५. अददत्सु भवन्ति नर्मदाः प्रददत्सु प्रविशन्ति विभ्रमं।

प्रणतेषु भवन्ति गर्विताः प्रमदास्तृप्ततराश्च मानिषु॥

सौ., ८.३९

स्त्रियाँ न देने वालों को सुखी बनाती हैं व देने वालों में भ्रम पैदा करती हैं। विनम्र व्यक्तियों के प्रति गर्व प्रकट करती हैं और स्वाभिमानियों से संतुष्ट रहती हैं।

८६६. गुणवत्सु चरन्ति भर्तृवद् गुणहीनेषु चरन्ति पुत्रवत्।

धनवत्सु चरन्ति तृष्णाया धनहीनेषु चरन्त्यवज्ञया॥

सौ., ८.४०

(स्त्रियाँ) गुणवानों के प्रति पति के समान (आदरपूर्ण) व्यवहार करती हैं। गुणहीनों के प्रति पुत्र की तरह आचरण करती हैं। धनवानों के प्रति तृष्णापूर्ण व्यवहार करती हैं और धनहीनों का तिरस्कार करती हैं।

८६७. प्रमदानामगतिर्न विद्यते।

सौ., ८.४४

स्त्रियों के लिए कुछ असंभव नहीं है।

८६८. अकृतज्ञमनार्यमस्थिरं वनितानामिदमीदृशं मनः।

सौ., ८.४६

स्त्रियों का मन अकृतज्ञ, अनार्य और अस्थिर होता है।

८६९. स्त्रीसंसर्गो बहुविधमनर्थाय भवति।

सौ., ८.६१

स्त्री का संसर्ग अनेक प्रकार के अनर्थों का कारण होता है।

८७०. गौणमेतद्धि नारीणां नाम वामा इति स्थितम्।

जामा, १.५८, पृ. १२८

गुणों के कारण ही स्त्रियों का 'वामा' यह नाम प्रचलित है।

८७१. कुलद्वयस्यापि हि निन्दिता स्त्री यशो विभूतिं च तिरस्करोति।

निमग्नचन्द्रेव निशा समेधा शोभां विभागं च दिवस्पृथिव्योः॥

जामा, १३.७, पृ. १७६

निन्दा के योग्य स्त्री (पिता और पति) दोनों (के) कुलों के यश और वैभव को तिरस्कृत करती है जैसे कि चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर बादलों भरी रात आकाश और पृथ्वी दोनों की ही शोभा और विभाग को ढक लेती है।

निर्वाण

८७२. यो तिण्णकथंकथो विसल्लो, निब्बाणाभिरतो अनानुगिद्धो।

लोकस्स सदेवकस्स नेता तादिं मग्गजिनं वदन्ति बुद्धा॥

सुनि, १.५.४

जो सन्देह से रहित, सांसारिक कांटों से मुक्त, निर्वाण में लीन, आसक्तिरहित, देवताओं के सहित लोक का जो नेता है बुद्ध उसे मार्गजिन कहते हैं।

८७३. निन्हाय सब्बपापकानि, अज्झत्तं बहिद्धा च सब्बलोके।

देवमनुस्सेसु कप्पियेसु, कप्पं नेति तमाहु न्हातको'ति।

सुनि, ३.६.१२

जिसने सारे लोक में भीतर और बाहर से सब पापों को धो डाला है और जो आवागमन में पड़े देवताओं और मनुष्यों में फिर जन्म ग्रहण नहीं करता, वह स्नातक कहा जाता है।

८७४. आगुं न करोति किञ्चि लोके, सब्बसंयोगे विसज्ज बन्धनानि।

सब्बत्थ न सज्जति विमुत्तो, नागो तादि पवुच्चते तथत्ताति॥

सुनि, ३.६.१३

जो संसार में किसी प्रकार का पाप नहीं करता, जिसने सब बन्धनों को तोड़ डाला है, जो कहीं आसक्त नहीं होता, जो विमुक्त, स्थिर, स्थितात्मा है, वह नाग कहा जाता है।

८७५. कोसानि विजेय्य केवलानि, दिब्बं मानुसकं च ब्रह्मकोसं।
(सब्ब) कोसमूलबन्धना पमुत्तो, कुसलो तादि पवुच्चते तथत्ता॥

सुनि, ३.६.१६

जो सम्पूर्ण स्वर्गीय, मानवीय और ब्रह्मलोक के अच्छे-बुरे कर्मों को जीतकर सारे कर्म-बन्धनों से मुक्त हो गया है वह स्थिर और स्थितात्मा कुशल कहा जाता है।

८७६. यस्सस्सु लुतानि बन्धनानि, अज्झत्तं बहिद्धा च सब्बमूलं।
(सब्ब) सङ्गमूलबन्धनापमुत्तो, आजानियो तादिपवुच्चते तथत्ताति॥

सुनि, ३.६.२३

जिसके भीतर और बाहर के सब बन्धन टूट गये हैं, जो सारी तृष्णाओं के मूल बन्धन से मुक्त है वह स्थित और स्थितात्मा आजानीय (उत्तम) कहा जाता है।

८७७. अमोसधम्मं निब्बाणं।

सुनि, ३.१२.३५

निर्वाण अनश्वर है।

८७८. न सो सोचति नाज्जेति, छिन्नसोतो अबन्धनो।

सुनि, ४.१५.१४

धारा को काटा हुआ, बन्धन-रहित व्यक्ति न शोक करता है और न चिन्ता करता है।

८७९. तण्हाय विप्पहानेन, निब्बाणं इति वुच्चति।

सुनि, ५.१४.५

तृष्णा का त्याग निर्वाण कहा जाता है।

८८०. अप्पका ते मनुस्सेसु, ये जना पारगामिनो॥ (पा.)
अल्पकास्ते मनुष्येषु ये जनाः पारगामिनः। (सं.)

धप, ८५.

मनुष्यों में वे मनुष्य बहुत थोड़े हैं जो (संसार-सागर) से पार चले जाने वाले हैं।

८८१. सब्बगन्थप्पहीनस, परिलाहो न विज्जति। (पा.)
सर्वग्रन्थप्रहीणस्य परिदासो न विद्यते। (सं.)

धप, ९०

जिसके सभी सांसारिक बन्धन नष्ट हो गये हैं, उस व्यक्ति के लिए क्लेश नहीं रहते हैं।

८८२. तितिक्षा निब्बानं परम वदन्ति बुद्धा। (पा.)
तितिक्षा निर्वाणं परमं वदन्ति बुद्धाः। (सं.)

धप, १८४

बुद्ध लोग (ज्ञानी जन) सहनशीलता व निर्वाण को परम पद बताते हैं।

८८३. निब्बानं परमं सुखं। (पा.)
निर्वाणं परमं सुखम्। (सं.)

धप, २०३, २०४

निर्वाण परम सुख है।

८८४. गन्था तेसं न विज्जन्ति, येसं नत्थि पियाप्पियं॥ (पा.)
ग्रन्थास्तेषां न विद्यन्ते येषां नास्ति प्रियाप्रियम्। (सं.)

धप, २११

जिनके प्रिय तथा अप्रिय नहीं होते उनको बन्धन भी नहीं है।

८८५. यो दुर्दमं चित्तमवर्तयद् वशे यो मारपाशौखमुक्तमानसः।
यस्याप्यबन्ध्याविह दर्शनश्रवास्त्यद्यान्ततः शान्त विमोक्षपारगः॥

लवि, १.३

जिसने दुःख से वश में आने वाले चित्त को वश में किया, जिसका मन मार के बन्धनों से छूट चुका है, जिसका दर्शन तथा (जिसके वचनों का) श्रवण भी यहाँ निष्फल नहीं होता (वह) विमुक्ति में पारंगत आज शान्त (निर्वाण) के समीप (विराजमान) है।

८८६. दुःखस्यैषोऽन्त उच्यते।

लवि, २२.११३९

यह (=निवृत्ति) ही दुःख का अन्त कही जाती है।

८८७. इहोत्तमं शान्तिमुखं च यस्य परत्र दुःखानि च संवृतानि॥

बु, ११.५४

जिसको इस लोक में उत्तम सुख और शान्ति है (उसके) परलोक में भय, दुःख नष्ट ही हैं।

८८८. सूक्ष्मत्वाच्चैव दोषाणामव्यापाराच्च चेतसः।
दीर्घत्वादायुषश्चैव मोक्षस्तु परिकल्प्यते॥

बु, १२.७५

दोषों के सूक्ष्म हो जाने से, चित्त में व्यापार नहीं होने से तथा आयु दीर्घ हो जाने से मोक्ष की (केवल) कल्पना कर ली जाती है।

८८९. दुर्लभं शान्तमजरं परं तदमृतं पदम्॥

बु, १२.१०६

दुर्लभ, शान्त, अजर वह परम अमृत-पद है।

८९०. स निरोधो न यत्रास्ति जन्ममृत्युजरादिकम्।
नाद्यन्तं न सुखं दुःखं न सर्गस्त्वक्षरो हि सः॥

बु, १५.५२

उसे निरोध कहते हैं जिसमें जन्म, मृत्यु, जरा आदि नहीं है तथा जिसका आदि-अन्त नहीं है, जिसमें न सुख है, न दुःख है और न सृष्टि है, वही अक्षर है।

८९१. मोक्षस्य समयापेक्षा नास्ति।

बु, १६.५

मोक्ष का कोई विशेष अवसर नहीं होता।

८९२. आत्मानन्दः परानन्दो निर्वाणं परमं सुखम्।

बु, १९.२७

आत्मा का आनन्द परम आनन्द है। निर्वाण, परम सुख है।

८९३. सारं शीलस्य मुक्तेश्च मूलं ज्ञानसमाधिजम्।
प्रातिमोक्षमिदं चास्ति ह्यन्तिमोद्देश्यवाहकम्॥

बु, २६.३३

यह प्रातिमोक्ष शील का सार, मुक्ति का मूल एवं समाधिजन्य ज्ञान है तथा अन्तिम उद्देश्यवाहक है।

८९४. भवस्य सारशून्यत्वं यदा ज्ञानेन दृश्यते।
मृतोत्थितस्य सादृश्यं तदा सौख्यं प्रजायते॥

बु, २६.९१

जब "संसार सारशून्य है"— ऐसा ज्ञान के द्वारा दिखने लगता है, तब मरकर पुनः जीवित होने की तरह उसे सुख होता है।

८९५. प्रशान्ता चानवद्या च नास्त्यध्यात्मसमा रतिः।

सौ., ११.३४

शान्त और दोष-रहित अध्यात्म के समान दूसरा कोई आनन्द नहीं है।

८९६. सर्वत्यागश्च निर्वाणम्।

बोधिच., २.६१

समस्त के त्याग का नाम ही निर्वाण है।

निर्वाणोपाय

८९७. विज्जागता च ये सत्ता, नागच्छन्ति पुनर्भवन्ति।

सुनि, ३.१२.७

जो प्राणी विद्या को प्राप्त कर लेते हैं, वे पुनर्जन्म में नहीं पड़ते हैं।

८९८. विज्जाणस्स निरोधेन, नत्थि दुक्खस्स सम्भवो।

सुनि, ३.१२.११

विज्ञान के निरोध से दुःख उत्पन्न नहीं होता।

८९९. विज्जाणूपसमा भिक्खु, निच्छातो परिनिब्बुतो' ति।

सुनि, ३.१२.१२

विज्ञान के निरोध से भिक्षु तृष्णा-रहित हो परिनिर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

९००. इच्छानिदाना भवसातबद्धा, ते दुप्पमुज्जा न हि अज्जमोक्खा।

सुनि, ४.२.२

जो इच्छाओं के वशीभूत हैं, सांसारिक सुखों में बँधे हुए हैं, उनकी मुक्ति अति कठिन है, क्योंकि वे दूसरों से मुक्त नहीं किये जा सकते।

९०१. अब्बूळ्हसल्लो चरमप्पमतो, नासिंसति लोकमिमं परज्जा'ति।

सुनि, ४.२.८

कामनारूपी तीर को निकालकर, अप्रमत्त हो विचरने वाला इस लोक या परलोक की इच्छा नहीं करता।

९०२. निदं तन्दिं सहे थीनं, पमादेन न संवसे।

अतिमाने न तिदुठेय्य, निब्बाणमनसो नरो॥

सुनि, ४.१५.८

निर्वाण चाहने वाला व्यक्ति निद्रा, तन्द्रा तथा आलस्य को जीते, प्रमाद में न रहे और अभिमान में न पड़े।

९०३. ये चित्तं संयमेस्सन्ति, मोक्खन्ति मारबन्धना। (पा.)

ये चित्त संयस्यन्ति मोक्ष्यन्ते मारबन्धनात्। (सं.)

धप, ३७

जो चित्त (या मन) को संयमित कर लेंगे, वे मार के बन्धनों से मुक्त हो जायेंगे।

९०४. परिनिब्बन्ति अनासवा। (पा.)

परिनिर्वान्ति अनासवाः। (सं.)

धप, १२६

वासनाओं से शून्य चित्त वाले (वीतरागी) निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

९०५. यमिह ज्ञानज्ज पज्जा च, स वै निब्बानसन्ति के। (पा.)

यस्मिन् ध्यानं च प्रज्ञा च स वै निर्वाणस्यान्तिके। (सं.)

धप, ३७२

जिसमें ध्यान और प्रज्ञा है वह निश्चय ही निर्वाण के समीप है।

९०६. मोहकलुषान्धकारं प्रज्ञाप्रदीपेन विधमथा सर्वं।
सानुशयदोषजालं विदारयत ज्ञानवज्रेण॥

लवि, ४.७२

प्रज्ञा के प्रदीप से मोह के काले अन्धकार को दूर करो। ज्ञान के वज्र से अनुशयों अर्थात् वासनाओं के साथ दोष-समूह को फाड़ डालो।

९०७. न हि बद्ध मोचयाती।

लवि, १३.५२७

(स्वयं) बन्धन में पड़ा (दूसरों को) मुक्त नहीं करता।

९०८. छिन्नवर्त्म निवर्तते।

लवि, २२.११३९

मार्ग (संसार) के कटने पर निवृत्त होता है।

९०९. ज्ञानासिना छिन्दथ क्लेशजालम्।

सुप्रसू., ६.२१

ज्ञानरूपी तलवार से क्लेशरूपी जाल को काट दें।

९१०. प्रियांश्च बन्धून्विषयांश्च हित्वा ये स्वर्गहितोर्नियमं चरन्ति।
ते विप्रयुक्ताः खलु गन्तुकामा महत्तरं बन्धनमेव भूयः॥

बु, ७.२१

जो प्रिय बान्धवों और भोगों को छोड़कर स्वर्ग के लिए नियम (तपोव्रत) का आचरण करते हैं वे (एक से) वियुक्त होकर फिर (उससे भी) भारी बन्धन में पड़ जाना चाहते हैं।

९११. शरीरपीडा तु यदीह धर्मः सुखं शरीरस्य भवत्यधर्मः।
धर्मेण चाप्नोति सुखं परत्र तस्मादधर्मं फलतीह धर्मः॥

बु, ७.२६

यदि इस लोक में शरीर-पीड़ा (दुःख सहनरूप तप) धर्म है तो शरीर का सुख अधर्म (माना जायेगा), धर्म से परलोक में (प्राणी) सुख पाता है, अतः धर्म इस लोक में अधर्म रूप फल देता है।

९१२. ...ये कर्मविशुद्धिहेतोः स्पृशन्त्यपस्तीर्थमिति प्रवृत्ताः।

तत्रापि तोषो हृदि केवलोज्यं न पावयिष्यन्ति हि पापमापः॥

बु, ७.३०

जो (मनुष्य) कर्म-शुद्धि (क्षय) के लिए तीर्थ मानकर जल में स्नान करते हैं वहाँ भी उनके हृदय में यह केवल संतोष मात्र है क्योंकि जल पाप को पवित्र नहीं कर सकता।

९१३. यज्ञैस्तपोभिर्नियमैश्च तैस्तैः स्वर्गं यियासन्ति हि रागवन्तः।
रागेण सार्धं रिपुणेव युद्ध्वा मोक्षं परीप्सन्ति तु सत्त्ववन्तः॥

बु, ७.५३

उन-उन यज्ञों, तपों एवं नियमों से स्वर्ग जाना चाहते हैं- वे रागी हैं किन्तु सत्त्ववान् (मेधावान् पुरुष) शत्रु के समान राग के साथ युद्ध करके मोक्ष चाहते हैं।

९१४. न चैष धर्मो वन एव सिद्धः पुरेऽपि सिद्धिर्नियता यतीनाम्।
बुद्धिश्च यत्नश्च निमित्तमत्र वनं च लिङ्गं च हि भीरुचिह्नम्॥

बु, ९.१८

और यह धर्म (केवल) वन में ही सिद्ध नहीं होता है, (अपितु) नगर में भी यत्नशीलों की सिद्धि निश्चित होती है। इस (सिद्धि) में बुद्धि एवं प्रयत्न कारण है। वन (में वास) एवं लिंग (भिक्षु वेष) कायर के चिह्न हैं।

९१५. नरः पितृणामनृणः प्रजाभिर्वेदैर्ऋषीणां क्रतुभिः सुराणाम्।
उत्पद्यते सार्धमृणैस्त्रिभिस्तैर्यस्यास्ति मोक्षः किल तस्य मोक्षः॥

बु, ९.६५

मनुष्य सन्तान द्वारा पितरों के, वेद द्वारा ऋषियों के एवं यज्ञ द्वारा देवों के ऋण से मुक्त होता है वह तीन ऋणों के साथ उत्पन्न होता है। जो उनसे मुक्त होता है, उसी का मोक्ष है।

९१६. प्रयत्नवन्तोऽपि हि विक्रमेण मुमुक्षवः खेदमवाप्नुवन्ति।

बु, ९.६६

पराक्रम से प्रयत्न करने वाले मुमुक्षु भी कष्ट का अनुभव करते हैं।

९१७. ज्ञानप्लवमधिष्ठाय शीघ्रं दुःखार्णवं तर।

बु, १२.९

ज्ञानरूपी नौका पर चढ़कर दुःख-सागर को शीघ्र पार करो।

९१८. अज्ञानं कर्म तृष्णा च ज्ञेयाः संसारहेतवः।
स्थितोऽस्मिंस्त्रितये जन्तुस्तत्सत्त्वं नातिवर्तते॥

बु, १२.२३

अज्ञान, कर्म और तृष्णा संसार के हेतु हैं। इन तीनों में स्थित रहने वाला जन्तु उस सत्त्व (प्रकृति विकार जन्म, जरा, व मृत्यु) के पार नहीं जा सकता।

९१९. नमस्कारवषट्कारौ प्रोक्षणाभ्युक्षणादयः।
अनुपाय इति प्राज्ञैः....।

बु, १२.३०

नमस्कार, वषट्कार, प्रेक्षणा, अभ्युक्षण आदि को प्राज्ञों ने अनुपाय (धर्म का उपाय नहीं) ऐसा जाना है।

९२०. क्षुत्पिपासाश्रमक्लान्तः श्रमादस्वस्थमानसः।
प्राप्नुयान्मनसावाप्यं फलं कथमनिर्वृतः॥

बु, १२.१०३

क्षुधा, पिपासा, थकान से क्षीण एवं परिश्रम से जिसका मन अस्त-व्यस्त है— ऐसा अशान्त मनुष्य, मन से प्राप्त होने वाला फल कैसे प्राप्त कर सकता है।

९२१. निःश्रेयसं ज्ञानसमाधिगम्यं कायक्लमैर्धर्ममिवाप्तुकामः।

बु, १३.५१

ज्ञान एवं समाधि से प्राप्त होने योग्य मोक्ष-धर्म को शारीरिक क्लेश से पाने की इच्छा करने वाला व्यर्थ परिश्रम करता है।

९२२. जन्मनाशाज्जरा मृत्योर्निरोधो नान्यथा पुनः।

बु, १४.८०

जन्म के नाश से ही जरा-मृत्यु का निरोध हो सकता है, अन्यथा नहीं।

९२३. उपादाननिरोधेन भवः संरुध्यते ध्रुवम्।

बु, १४.८१

उपादान का निरोध होने पर संसार निश्चितरूप से संरुद्ध हो जाता है।

९२४. तृष्णारोध उपादानं निरुद्धं भवति क्षणात्।
वेदनायां विनष्टायां तृष्णास्तित्वं न विद्यते॥

बु, १४.८२

तृष्णा का निरोध होने पर उपादान का एक क्षण में ही निरोध हो जाता है और वेदना का विनाश होने पर तृष्णा का अस्तित्व नहीं रहता।

९२५. स्पर्शं नष्टे ततः सम्यग् वेदना नश्यति ध्रुवम्।
षडायतनसन्नाशे स्पर्शश्चापि विलीयते।

बु, १४.८३

स्पर्श के अच्छी प्रकार नष्ट होने पर, वेदना निश्चित रूप से नष्ट हो जाती है तथा षड् आयतनों के सम्यक् नाश होने पर स्पर्श विलीन हो जाता है।

९२६. नामरूपनिरोधे च षडायतनसंक्षयः।
तथा विज्ञानरोधे च नामरूपे विनश्यतः॥

बु, १४.८४

नाम-रूप के निरोध होने पर षड् आयतनों का सम्यक् क्षय हो जाता है तथा विज्ञान के निरोध होने पर नाम-रूप नष्ट हो जाता है।

९२७. संस्कारस्य निरोधेन विज्ञानं सन्निरुध्यते।

बु, १४.८५

संस्कार के निरोध होने पर विज्ञान का निरोध हो जाता है।

९२८. अविद्यापगमे सम्यक् संस्कारः क्षीयतेऽखिलः।

बु, १४.८६

अविद्या का अपगम (अभाव) होने पर अच्छी तरह से सम्पूर्ण संस्कार क्षीण हो जाते हैं।

९२९. बुद्धितत्त्वे प्रदीप्ते च कामभावो न तिष्ठति।

बु, १५.१५

बुद्धितत्त्व के प्रकाशित होते ही काम-भावना नहीं रह जाती है।

९३०. मूढग्राहतपो यश्च विषयान् यश्च सेवते।

असन्मार्गाश्रितौ तौ द्वौ मोक्षो नैवमवाप्यते॥

बु, १५.३३

जो मूढ़ता के कारण काय-क्लेशरूप तपस्या का हठ करते हैं तथा जो विषय में आसक्त हैं, वे दोनों गलत मार्ग का आश्रय लिये हैं। इस तरह मुक्ति नहीं मिलती।

९३१. क्षीणस्य तपसा पुंसश्चित्तमज्ञस्य मुह्यति।

लोकज्ञानासमर्थं तत्कथं वेत्स्यति तत्परम्।

बु, १५.३४

जब अज्ञानी पुरुष का शरीर हठाग्रह तपस्या से क्षीण हो जाता है तब उसका चित्त भी मोहित (बेहोश) हो जाता है। उस चित्त से व्यावहारिक ज्ञान भी नहीं हो सकता तो वह पर तत्त्व कैसे जान सकता है?

९३२. ज्ञाननाशयं तदज्ञानं वपुषा न विनश्यति॥

बु, १५.३५

ज्ञान से नष्ट होने वाला अज्ञान शारीरिक क्रिया से नष्ट नहीं होता है।

९३३. दोषक्षये ध्रुवं त्वेतद्भवचक्रं विरम्यते।

कर्मक्षये दुःखनाशो बीजाभावेऽङ्कुरः कुतः॥

बु, १५.५१

दोष के क्षय होने पर यह भव-चक्र निश्चय ही रुक जाता है एवं कर्म के क्षय होने पर दुःख का नाश हो जाता है। बीज के अभाव में अंकुर कहाँ से होगा।

९३४. भूषितो मुण्डितो वापि समद्रष्टा जितेन्द्रियः।
धर्ममाचरितुं योग्यो न लिङ्गं धर्मकारणम्॥

बु, १६.१०

चाहे कोई आभूषण पहिने हो, चाहे सिर घुटाये हो, पर जो समदर्शी और जितेन्द्रिय है— वही धर्म का आचरण करने योग्य है केवल वेष (चिह्न मात्र) ही धर्म का कारण नहीं हैं।

९३५. एवं सिद्धिं समागम्य भिक्षुर्विगतमत्सरः।
यत्र कुत्राश्रमे तिष्ठन् विमुक्तः स निगद्यते॥

बु, १६.१३

(इस प्रकार) सिद्धि को प्राप्त कर, ईर्ष्या का नाश करके, भिक्षु, जिस किसी भी आश्रम में वास करता हुआ विमुक्त ही कहा जाता है।

९३६. तप्यमानमिमं विश्वं विविधैर्दुःखपावकैः।
ज्ञानिनां पश्यतां देहे संवेगो जायतेऽमलः॥

बु, १६.४१

अनेक प्रकार की दुःखरूपी अग्नियों से जलते हुए इस संसार को देखने वाले ज्ञानियों के शरीर में निर्मल संवेग उत्पन्न हो जाता है।

९३७. संवेगाच्च निरीहत्वं जितचित्तस्य जायते।
ततो मुक्तिस्ततोऽसौ हि मुक्तोऽहमिति मन्यते॥

बु, १६.४२

चित्त को जीतने वाले व्यक्ति को संवेग से निरीहता होती है, निरीहता से मुक्ति है और तब वह— मैं मुक्त हूँ— ऐसा मानने लगता है।

९३८. आहुत्या पूजया चाग्नेः प्रवृत्तिर्भवजन्मनि।
आधिव्याधिफलञ्चास्या...।

बु, १६.५६

अग्नि की पूजा करने और उसमें आहुति देने से, फिर से संसार में जन्म लेने की प्रवृत्ति बनी रहेगी और उस प्रवृत्ति से शारीरिक और मानसिक पीड़ा होगी।

९३९. हूयते पूज्यते वह्निर्मन्त्रोच्चारणपूर्वकम्।
सकामेनैव ते कामा वर्धन्ते...।

बु, १६.५७

अग्नि—पूजा और उसमें आहुति देना, मन्त्रोच्चारण के साथ सकाम—भाव से ही किया जाता है। इससे कामनाएँ बढ़ती हैं।

१४०. मन्त्रोच्चारेण चाहुत्या न मुक्तिर्जन्मतो नृणाम्।

बु, १६.५८
मन्त्र के उच्चारण एवं अग्नि में आहुति देने से, मनुष्यों को जन्म (बन्धन) से मुक्ति नहीं मिल सकती।

१४१. इज्यया कर्मणा चैव तपसा श्रेय आप्यते।
मिथ्यैवैष हि विश्वासो...॥

बु, १६.५९
पूजा, कर्म और तपस्या से श्रेय की प्राप्ति होती है, यह अन्ध (असत्य)—विश्वास है।

१४२. यावत्किञ्चिदिदं सर्वं न मे नाहं विजानतः।
अक्षयश्चाव्ययस्तस्य निर्वाणो जायतेऽमलः॥

बु, १६.७५
यह सारा जगत्, जो कुछ दीख रहा है, मेरा नहीं और मैं नहीं— ऐसा जिसने जान लिया उसको अक्षय, अव्यय एवं निर्मल निर्वाण प्राप्त होता है।

१४३. दोषत्यागेन बोधाप्त्या निर्वाणो भुवि दृश्यते।

बु, १६.८५
संसार में दोष के त्याग एवं ज्ञान की प्राप्ति से निर्वाण होता है।

१४४. शीलञ्चाचरणं शुद्धं क्रियतां यत्नतो बुध।
शीलादधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

बु, १८.६
शील और आचरण को प्रयत्नपूर्वक शुद्ध करो। शील से पापरहित होकर मनुष्य अनामय (निर्वाण) पद को प्राप्त करते हैं।

१४५. तत्त्वबोधे वने वासः पूर्वासो वा न कारणम्।

बु, १८.१६
तत्त्वबोध में वन का वास (संन्यास) अथवा पुर का वास (गृहस्थी) कारण नहीं है।

१४६. जितात्मानो रजोमुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।

बु, १८.१७
जितेन्द्रिय लोग राग से रहित होकर अनामय पद को पाते हैं।

१४७. अब्धिवीचिमिवात्यन्तं ज्ञात्वा विश्वं तु चञ्चलम्।
कर्मासक्तिमुदासीनश्छेद्यतां धर्म्यकर्मणा॥

बु, १९.२५
संसार को समुद्र की तरंग के समान अत्यन्त चंचल जानकर उदासीन रहते हुए, धार्मिक कर्म के द्वारा कर्मासक्ति को काट डालें।

१४८. दुःखसमुदयो दुःखमुपशमश्च तत्सुतिः।
विज्ञातेषु हि चैतेषु मलं भीतिर्विनश्यतः॥

बु, १९.३०

दुःख, दुःख का समुदय (उदगम), उपशम, दुःखनाश तथा दुःखनाश का मार्ग— ये सब जान लेने पर मल (अज्ञान) और भीति (भय) नष्ट हो जाते हैं।

१४९. न च तदुत्तमं ज्ञानं यत्र दुःखं व्यपोहति।

बु, २०.४५

वह उत्तम ज्ञान नहीं, जो दुःख को न मिटा सके।

१५०. अनित्यमशुभाकारं पौनःपुन्यं कलेवरम्।
चेद्दधासि न मुक्तस्त्वं विषयेभ्यो भविष्यसि॥

बु, २०.४७

अनित्य, अमंगल का घर, यह शरीर, यदि तुम बारम्बार धारण करते रहो तो जानो कि विषयों से मुक्त नहीं हो सकते हो।

१५१. निवृत्त्यां मन आधत्स्व प्रवृत्त्यां शं न विद्यते॥

बु, २०.४८

तुम निवृत्ति में मन लगाओ। प्रवृत्ति में शान्ति नहीं है।

१५२. गृहस्थो वा वनस्थो वा यस्य शान्तिः स जीवति॥

बु, २०.५४

चाहे भवन में रहे अथवा वन में रहे, जो शान्ति प्राप्त करता है, वही वास्तव में जीता है।

१५३. ...गृहे स्थिताश्चापि स्वकर्मनिरताः सदा।
अप्रमत्ता विशुद्धास्ते पदं गच्छन्ति नैष्ठिकम्॥

बु, २०.५७

जो व्यक्ति घर में ही रहकर सदा अपने कर्म में लगे रहते हैं वे अप्रमत्त (सावधान) होकर पूर्ण शुद्ध रहते हैं और इस प्रकार नैष्ठिक पद को प्राप्त करते हैं।

१५४. कामो मोहो घृणा चेति दुर्जयो हि मदत्रयम्।
विजित्य मुनयो मुक्ता...॥

बु, २१.६१

काम, मोह और घृणा— ये तीन मद (मतवालेपन) जीतने में बड़े हैं इनको जीतकर ही मुनि मुक्त होते हैं।

१५५. तमः प्रसक्तिमुत्सृज्य याहि स्वाभाविकीं गतिम्।

बु, २१.६२

अंधकार (अज्ञान) की आसक्ति को छोड़कर स्वाभाविक गति को प्राप्त करो।

१५६. लक्ष्यं लभस्व निर्द्वन्द्वो मनो रक्ष्य तामसात्।

बु, २४.२२.

निर्द्वन्द्व होकर लक्ष्य को प्राप्त करो और तम से मन की रक्षा करो।

१५७. क्षेत्राणि सन्ति चत्वारि परमश्रेय—आप्तये।

अनात्मता शरीरं च तथा चित्तं च वेदना॥

बु, २४.२४

परमश्रेय की प्राप्ति के लिए चार क्षेत्र हैं (यथा) अनात्मा, शरीर, चित्त एवं वेदना।

१५८. कारणाद्धि समुत्पत्तिः स्कन्धानामिति जानताम्।

पोषकोऽहन्त्वभावस्य चात्मभावो निवर्तते।

बु, २४.२५

स्कन्धों की उत्पत्ति कारण से होती है, ऐसा जानने वाले का अहंभाव का पोषक आत्मभाव निवृत्त हो जाता है।

१५९. विद्यया हि विना रूपं ज्ञानन्व क्रियया विना।

विना शक्त्या च बुद्धिर्हि शक्तिः संस्कारवर्जिता॥

विना चारेण सम्पत्तिः स्नेहः श्रद्धाविवर्जितः।

उद्योगेन विना लक्ष्मीर्धर्मः कर्म विना तथा।

बु, २५.३-४

विद्या के बिना रूप, क्रिया के बिना ज्ञान, शक्ति के बिना बुद्धि एवं संस्काररहित शक्ति तथा आचार (सदाचार) के बिना सम्पत्ति, श्रद्धा के बिना प्रेम, उद्योग के बिना लक्ष्मी और कर्म के बिना धर्म (सब) एक जैसे हैं।

१६०. वैद्यदर्शनमात्रेण विनाप्यौषधसेवनम्।

रोगमुक्तिर्न लोकानां निर्वाणोऽपि तथा स्मृतः॥

बु, २५.७८

औषधि सेवन के बिना वैद्य के दर्शन मात्र से लोगों को रोग विमुक्ति नहीं होती। निर्वाण भी इसी तरह का कहा गया है।

९६१. इच्छा ही जगतो मूलमिति बौद्धमतं शुभम्।
इच्छानाशो जगन्नाशो हेत्वभावे न कार्यता।

बु, २६.१८

जगत् का मूल कारण इच्छा है— यह मत ही बौद्ध (उत्तम) मत है। इच्छा के नाश से जगत् का नाश होता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है।

९६२. हेयां तु लौकिकीं वृत्तिं मनोवाक्कायशुद्धये।

बु, २६.३०

मन, वाणी और शरीर की शुद्धि के लिए लौकिक वृत्ति का त्याग कर देना चाहिये।

९६३. निरिच्छायै च कर्तव्यः सदाभ्यासो गुणार्थिभिः।

बु, २६.५७

गुणग्राही को सदा निरिच्छा का अभ्यास करना चाहिये।

९६४. इच्छा यस्य वशीभूता मोक्षस्तस्य करे स्थितः॥

बु, २६.५८

इच्छा जिसके वश में हो गई है, मोक्ष उसके हाथ में स्थित है।

९६५. त्यक्तालयोगपि चित्तस्य व्यापारं न रुरोध यः।
नाशितोभयलोकस्य तस्य त्राणं कथं भवेत्॥

बु, २६.७२

जिसने घर का त्याग कर दिया है किन्तु चित्त के व्यापार का निरोध नहीं किया उसने दोनों लोकों को नष्ट कर लिया। उसका त्राण कैसे हो सकता है।

९६६. यद्दुःखं तत्सुखं नास्ति दुःखं दुःखस्य कारणम्।
दुःखहाने ध्रुवा मुक्तिर्निरोधो हानकारणम्॥

बु, २६.८१

जो दुःख है वह सुख नहीं। दुःख का कारण दुःख है। दुःख के नाश होने पर मुक्ति ध्रुव है। निरोध दुःखनाश का हेतु है।

९६७. विदित्वा जगतो भावं जहि शोकं तमोभवम्।
तथा यतस्व नित्यं त्वं यथा नायं पुनर्भवः॥

बु, २६.९०

जगत् का भाव जानकर तम से उत्पन्न शोक को त्यागो और तुम ऐसा प्रयत्न करो कि जिससे पुनर्जन्म न होवे।

९६८. बहिः स्थितानरीञ्जेतुं शस्त्रैः स्यात्सुलभं रणे।
प्राकाराभ्यन्तरस्थास्तु न तथा संहतान्पुनः॥

बु., २८.१७

बाहर स्थित शत्रुओं को युद्ध में शस्त्रों से जीतना सरल है। किन्तु (परकोट) के अन्दर स्थित (शत्रु) को जीतना सरल नहीं है, उस पर भी यदि संगठित हों तो (और भी) अत्यन्त कठिन है।

९६९. शान्त्यायुधैर्जितानां तु शश्वच्छान्तिं निगच्छति॥

बु., २८.२४

शान्ति के उपायों से जीते हुए मनुष्यों का मन सदा के लिए शान्त हो जाता है।

९७०. ज्ञानाच्च रौक्ष्याच्च विना विमोक्तुं न शक्यते स्नेहमयस्तु पाशः।

सौ., ७.१५

स्नेहमय पाश को, बिना ज्ञान और रूखेपन के नहीं छोड़ा जा सकता है।

९७१. मोक्षस्योपनिषत्सौम्य वैराग्यमिति गृह्यतां।
वैराग्यस्यापि संवेदः संविदो ज्ञानदर्शनम्॥

सौ., १३.२२

मोक्ष का उपनिषद् वैराग्य है, वैराग्य का सम्यक् ज्ञान और सम्यक् ज्ञान का ज्ञान-दर्शन है।

९७२. तथा प्रीतेरुपनिषत्प्रामोद्यं परमं मतं।
प्रामोद्यस्याप्यहल्लेखः कुकृतेष्वकृतेषु वा॥

सौ., १३.२५

प्रीति का उपनिषद् परम प्रमोद है और दुष्कृत अथवा अकृत कार्यों में पीड़ा का अभाव प्रमोद का उपनिषद् है।

९७३. अभूतपरिकल्पेन विषयस्य हि बध्यते।
तमेव विषयं पश्यन् भूततः परिमुच्यते॥

सौ., १३.५१

जो विषय मनुष्य को झूठी कल्पना में बाँधते हैं उन्हीं विषयों को यथार्थ स्वरूप में देखकर (अन्त में) मुक्त हो जाता है।

९७४. अबोधतो ह्यप्रतिवेधतश्च तत्त्वात्मकस्यास्य चतुष्टस्य।
भवाद्वयं याति न शान्तिमेति संसारदोलामधिरुह्य लोकः॥

सौ., १६.६

इस तत्त्वात्मक चार (आर्य सत्त्यों) को जो न समझते हुए संसाररूपी डोले पर चढ़कर प्राणी (एक) भव से (दूसरे) भव में जाता है (उसे) शान्ति नहीं प्राप्त होती है।

१७५. शमाय यत्स्यान्नियतं निमित्तं जातोद्धवे चेतसि तस्य कालः।

सौ., १६.५४

जब हृदय में उत्तेजना उत्पन्न हो रही हो उस समय शान्ति के उपाय के लिए प्रयत्न करना उचित है।

१७६. इहार्थमेवारभते नरोऽधमो विमध्यमस्तूभयलौकिकीं क्रियां।

क्रियाममुत्रैव फलाय मध्यमो विशिष्टधर्मा पुनरप्रवृत्तये॥

सौ., १८.५५

नीच कोटि के मनुष्य इस संसार में लाभ के लिए कार्य प्रारंभ करते हैं, विमध्यम कोटि के मनुष्य दोनों लोकों के लिए और मध्यम कोटि का व्यक्ति परलोक में फल पाने के लिए कार्य आरंभ करता है किन्तु विशिष्ट धर्म वाले ऐसे कार्य करते हैं जिनसे पुनर्जन्म न हो।

१७७. दोषोदयात्पूर्वमनन्तरं वा युक्तं तु तच्छान्तिपथेन गन्तुम्।

गते प्रयासं ह्युपचारदोषैर्व्याधौ चिकित्साप्रणयो विघातः॥

जामा, ४.११

बुराई के उत्पन्न होने से पूर्व या उत्पन्न होते ही उसको दूर (शान्त) करने का उपाय करना उचित ही है। क्योंकि उपाय में दोष आ जाने पर फिर रोग के इलाज के सारे प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं।

नीति

१७८. न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कुदाचनं। (पा.)

न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन। (सं.)

धप, ५

यहाँ (इस संसार में) वैर से वैर कभी शान्त नहीं होते।

१७९. असाधुं साधुना जिने। (पा.)

असाधुं साधुना जयेत्। (सं.)

धप, २२३

साधु (भलाई) से असाधु (दुर्जन) को जीते।

१८०. क्षिप्तं शरो न च निवर्तीति शिक्षितेन।

लवि, २१.९८२

सुशिक्षित के द्वारा फेंका हुआ तीर लौटता नहीं है।

९८१. बलवत्सु विग्रहः सुकृच्छ्र अयं प्रयोगः।

लवि, २१.१०७०

बलवानों के साथ लड़ाई मोल लेना एक बहुत बड़ा महंगा व्यापार है।

९८२. कुर्यान्नि तं येन भवेच्च दुर्मनाः।

लवि, २१.१०७३

जिससे पछताना पड़े, वह (काम) नहीं करना चाहिये।

९८३. न कोपयेत् तं क्षमयेत् पुनोऽपि यम्।

लवि, २१.१०७३

जिससे उल्टे क्षमा माँगनी पड़े, उसे नाराज नहीं करना चाहिये।

९८४. न तं खनेद् यस्य न मूलमुद्धरेत्।

लवि, २१.१०७३

जिसका मूल न उखाड़ सके, उसे नहीं खोदना चाहिये।

९८५. न तं तरेद् यस्य न पारमुत्तरे।

लवि, २१.१०७३

जिसके पार न जा सके, उसे तैरना नहीं चाहिये।

९८६. न खल्वयं गर्हित एव यत्नो यो हीनमुत्सृज्य विशेषगामी।

बु, ७.२५

वास्तव में यह प्रयत्न निन्दित नहीं, जो स्वल्प को छोड़कर अधिक की ओर जाता है।

९८७. न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम्।

बु, १३.६०

न्यायपूर्वक (ईमानदारी से) करने पर सब कुछ संभव है।

९८८. ज्ञानेन निर्वास्य दोषान् स्वपिहि नान्यथा।

बु, २६.४७

ज्ञान के द्वारा दोषों को निकालकर सोना चाहिए, अन्यथा (नहीं सोना चाहिये)।

९८९. घनन्तं चापि दृढं शत्रुं प्रतिहन्यान् कर्हिचित्।

नालपेद्दुर्वचश्चापि प्रतिघातोऽयमुत्तमः॥

बु, २६.५०

बलवान् शत्रु यदि आघात भी कर रहा है तब भी कभी प्रतिघात नहीं करना चाहिये तथा दुर्वचन भी नहीं कहना चाहिए। यह उत्तम प्रतिघात (बदले की भावना) है।

९९०. कार्यार्थमपि न श्रेयः सात्ययापनयः क्रमः।

जामा, २२.२१

कार्य की सफलता के लिए अहितकारी और दुर्नीति का मार्ग श्रेयस्कर नहीं है।

९९१. छायाद्रुमेष्विव नरेषु कृताश्रयेषु तावत्कृतज्ञचरितैः स्वयशः परीप्सेत्।
नार्थोऽस्ति यावदुपभोगनयेन तेषां कृत्ये तु यज्ञ इव ते पशवो नियोज्याः॥

जामा, २३.२१

जिन मनुष्यों के आश्रय में, छायाप्रधान वृक्षों की तरह, रहते हैं उनके प्रति तभी तक कृतज्ञता का आचरण करते हुए अपने यश का विस्तार करते रहें जब तक उपयोगिता की नीति के अनुसार उनका प्रयोजन समाप्त नहीं हो जाता। बाद में वे (उपकारी पुरुष) यज्ञ के पशुओं की तरह कार्य-सिद्धि में बलि बनाए जाएँ।

९९२. स्वच्छन्दरम्यचरितोऽत्र विचक्षणः स्यात्।

जामा, २३.४६

अपने मन को जो अच्छा लगे उसी का आचरण करने वाला (स्वच्छन्दाचारी) ही चतुर समझा जाएगा।

९९३. प्रयोजनं प्राप्य न चेदवेक्ष्यं स्निग्धेषु बन्धुष्वपि साधुवृत्तम्।

जामा, २३.५२, पृ. ३१२

स्वार्थ-पूर्ति का प्रसंग आने पर स्नेही बान्धवों के भी उत्तम व्यवहार का विचार नहीं किया जाता है।

९९४. ऐश्वर्यविद्यातपसां समृद्धिर्लब्धप्रयामश्च कलासु सङ्गः।

शरीरवाक्चेष्टितविक्रियाश्च नामापरं सज्जनयन्ति पुंसाम्॥

जामा, २८.१, पृ. ३६९

ऐश्वर्य, विद्या और तपस्या की अधिकता तथा कलाओं में बढ़ी हुई रुचि और शरीर व वाणी की सत्क्रियाएँ और विक्रियाएँ मनुष्यों को दूसरा ही नाम दिलाती हैं।

९९५. इहापि तावद्धनसंपदर्थिनः प्रयुज्जते नैव धनं दुरात्मनि।

न घस्मरे नानिपुणे न चालसे गतं हि यत्तत्र तदन्तमेति तत्॥

जामा, २९.१७, पृ. ३९८

इस लोक में (विश्वास करने वाले) धन-सम्पत्ति को चाहने वाले लोग न तो दुर्जन को, न पेटू को, न अकुशल को और न ही आलसी पुरुष को धन (उधार) देते हैं क्योंकि जो धन (ऐसे व्यक्ति को उधार देने में) गया वह उस (उधार देने वाले) के विनाश का कारण बन जाता है।

९९६. ये नीतिमार्गप्रतिपत्तिधीराः प्रायेण ते प्रेत्य पतन्त्यपायान्।

जामा, ३१.५४

जो (कुटिल) नीति के मार्ग पर चलने में धीर हैं वे मृत्यु के बाद प्रायः दुर्गति को ही प्राप्त करते हैं।

९९७. न तत्सुनीतं हि वदन्ति तज्ज्ञा यन्नानुबध्नन्ति यशः सुखार्थाः॥

जामा, ३१.५५

सुधी जन उसे नीति नहीं कहते जिससे (अन्त में) कीर्ति, आनन्द और कल्याण की प्राप्ति नहीं होती है।

९९८. अवैरेण वैराणि शाम्यन्ति, संयमतश्च वैरं न चीयते।

जामा, पृ. २६६

अबैर अथवा मित्रभाव से बैर (शत्रु-भाव) शान्त होता है तथा आत्मसंयम रखने से यह बढ़ता नहीं है।

९९९. अपातकं हि स्वप्राणपरिरक्षानिमित्तं गुरुजनार्थं चानृतमार्गो वेदविहितः।

जामा, पृ. ४३६

अपने प्राणों की रक्षा के लिए तथा गुरुजनों के लिए असत्य मार्ग का आश्रय लेने में पाप नहीं है— ऐसा वेद कहते हैं।

पाप-पुण्य

१०००. यो निन्दियं पसंसति, तं वा निन्दति यो पसंसियो।

विचिनाति मुखेन सो कलिं, कलिना तेन सुखं न विन्दति॥

सुनि, ३.१०.२

जो निन्दनीय की प्रशंसा करता है और प्रशंसनीय की निन्दा करता है, वह मुख से पाप करता है और उस पाप के कारण वह सुख को प्राप्त नहीं होता।

१००१. मधू व मज्जति बालो, याव पापं न पच्चति। (पा.)

मधु इव मन्यते बालो यावत् पापं न पज्यते। (सं.)

धप, ६९

जब तक किया हुआ पापकर्म फल नहीं देता। तब तक मूर्ख उसे मधु के सदृश (मधुर) समझता है।

१००२. दन्धं हि करोतो पुज्जं, पापस्मिं रमती मनो॥ (पा.)

तन्द्रां हि कुर्वतः पुण्यं पापे रमते मनः। (सं.)

धप, ११६

पुण्य कर्म के करने में देरी करने पर मन पाप में रम जाता है।

१००३. पापा चित्तं निवारये। (पा.)
पापात् चित्तं निवारयेत्। (सं.)

धप, १९६

पाप-कर्म से मन को दूर रखें।

१००४. पापो पि पस्सति भद्रं, याव पापं न पच्चति॥ (पा.)
पापोऽपि पश्यति भद्रं यावत् पापं न पच्यते। (सं.)

धप, ११९

जब तक पाप फल नहीं देता, पापी भी कल्याण देखता है।

१००५. माप्पमज्जेथ पापस्स न मन्त आगमिस्सति॥ (पा.)
माऽवमन्येत पापस्य न मां तद् आगमिष्यति। (सं.)

धप, १२१

पाप की अवहेलना न करें कि वह मेरे पास नहीं आयेगा।

१००६. धीरो पूरति पुज्जस्स, थोकथोकं पि आचिनं॥ (पा.)
धीरः पूरयति पुण्यस्य स्तोकं स्तोकमप्याचिन्वन्। (सं.)

धप, १२२

पुण्य का थोड़ा-थोड़ा भी संचय करता हुआ, धैर्यवान् व्यक्ति पुण्य का घड़ा भर लेता है।

१००७. मावमज्जेथ पुज्जस्स, न मन्त आगमिस्सति॥ (पा.)
माऽवमन्येत पुण्यस्य न मां तदागमिष्यति। (सं.)

धप, १२२

पुण्य की अवहेलना न करें कि वह मेरे पास नहीं आयेगा।

१००८. नत्थि पापं अकुब्बतो। (पा.)
नास्ति पापमकुर्वतः। (सं.)

धप, १२४

कर्म न करने वाले को पाप नहीं है।

१००९. न विज्जती सो जगतिप्पदेसो, यत्थदिठतो मुज्जेय्य पापकम्मा॥ (पा.)
न विद्यते स जगति प्रदेशो यत्रस्थितो मुच्येत पापकर्मणः। (सं.)

धप, १२७

संसार में कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ रहकर पापी (पाप के फलों से) बच सके।

१०१०. पापानि कम्मनि, करं बालो न बुज्झति। (पा.)
पापानि कर्माणि कुर्वन् बालो न बुध्यते। (सं.)

धप, १३६

पाप कर्म करता हुआ मूर्ख (उसे) नहीं समझता है।

१०११. अत्तना हि कतं पातं, अत्तजं अत्तसम्भवं।
अभिमन्यति दुम्मेधं, वजिरं वस्मयं मणिं॥ (पा.)
आत्मना एव कृतं पापं आत्मजम् आत्मसम्भवम्।
अभिमन्याति दुर्मेधसं वज्रमिवाश्ममयं मणिम्॥ (सं.)

धप, १६१

अपने ही द्वारा किया गया, अपने ही से उत्पन्न (और) अपने ही से पोषित पाप दुर्बुद्धि को मथ डालता है; जैसे पत्थर से उत्पन्न हीरा (पत्थर की) मणि को छेद देता है।

१०१२. सुकरानि असाधूनि। (पा.)
सुकराणि असाधूनि। (सं.)

धप, १६३

दुष्कर्म सरल हैं।

१०१३. यं वे हितं च साधुं च, तं वे परमदुष्करं। (पा.)
यद् वै हितं च साधु च तद् वै परमदुष्करम्। (सं.)

धप, १६३

जो कार्य हितकारी और अच्छा है उसका करना अत्यन्त कठिन है।

१०१४. अत्तना हि कलं पाप, अत्तना सकिलिस्सति॥ (पा.)
आत्मना हि कृतं पापम् आत्मना सक्लिश्यति। (सं.)

धप, १६५

अपने द्वारा ही किया गया पाप अपने को ही क्लेश देता है।

१०१५. अत्तना अकत पाप, अत्तना व विमुज्झति। (पा.)
आत्मना अकृतं पापम् आत्मनैव विशुध्यति। (सं.)

धप, १६५

अपने द्वारा न किया गया पाप अपने को ही शुद्ध करता है।

१०१६. वितिण्णपरलोकस्स, नत्थि पापं अकारिय॥ (पा.)
वितुष्णपरलोकस्य नास्ति पापम् अकार्यम्। (सं.)

धप, १७६

हो।

१०१७. पच्छा तप्पति दुक्कतं। (पा.)
पश्चात् तपति दुष्कृतम्। (सं.)

धप, ३१४

दुष्कृत (पाप) पीछे दुःख देता है।

१०१८. अकतं दुक्कतं सेय्यो। (पा.)
अकृतं दुष्कृतं श्रेयः। (सं.)

धप, ३१४

दुष्कृत (पाप) न करना श्रेष्ठ है।

१०१९. पुञ्ञं सुखं जीवितसंखयमिह। (पा.)
पुण्यं सुखं जीवितसंक्षये। (सं.)

धप, ३३१

जीवन के क्षय होने पर पुण्य सुखद होता है।

१०२०. पापानं अकरणं सुखं॥ (पा.)
पापानाम् अकरणं सुखम्। (सं.)

धप, ३३३

पापों का न करना सुखकर है।

१०२१. ये किल्वषा स्वहृदये मधुरा सुवाचं, कुम्भी विषस्मि परिषिक्तु यथामृतेन।
दुस्पर्शशैलशीलवत् कथि (ठि) नान्तरात्म, सर्पस्य वा बिरसु दर्शन तादृशानां॥

लवि, १२.३७७

अपने हृदय में जो पापी हैं, अपनी वाणी में जो मीठे हैं, विष के घट जैसे जो अमृत से सींचे हुए हैं, कठोर स्पर्श की पत्थर-शिला जैसे जिनका अन्तरात्म कठिन हैं वैसे (लोगों) का दर्शन साँप की भाँति निरानन्द है।

१०२२. अभिप्रायु सिध्यति च पुण्यवतो नरस्य।

लवि, २२.११५५

पुण्यवान् पुरुष का मनोरथ सफल होता है।

१०२३. पुण्याविपाकु सुख सर्वदुःखापनेती।

लवि, २२.११५५

पुण्य का सुखदायक फल सब दुःखों को दूर करता है।

१०२४. जीवितं च परित्यज्य मा पापे पतितो भवेत्।

सुप्रसू., १३.५६

जीवन का त्याग भी करना पड़े, तो भी पाप कर्म नहीं करना चाहिये।

१०२५. स्वस्थैश्चिकित्सितव्या हि व्याधिग्रस्ताः सुसाधनैः।

बु, १५.१४

स्वयं स्वस्थ रहते हुए सुन्दर साधनों के द्वारा व्याधि से पीड़ित प्राणियों की चिकित्सा करनी चाहिये।

१०२६. आतिथ्यमार्यधर्मो हि स्यादतिथिर्यथातथा।

बु, १५.२२

अतिथि सत्कार करना आर्य धर्म है, अतिथि चाहे जैसा हो।

१०२७. न कोऽपि कुशलं कर्म परार्थं कर्तुमर्हति।

कृतेऽपि न फलं तस्य परस्मै भवति क्वचित्॥

बु, २०.३१

कोई भी प्राणी परमार्थ के लिए पुण्य-कर्म नहीं कर सकता। यदि करे भी तो उसका फल दूसरे के लिए नहीं हो सकता।

१०२८. कार्पण्यवचनं पापं पापं धर्मस्य घातनम्॥

बु, २८.४२

कृपण वचन बोलना पाप है तथा धर्म का घात करना पाप है।

१०२९. पुरुषश्च विहाय यः कलिं पुनरिच्छेत्कलिमेव सेवितुं।

स विहाय भजेत बालिशः कलिभूतामजितेन्द्रियः प्रियाम्॥

सौ., ८.३०

जो पुरुष पाप को छोड़कर फिर पाप का ही सेवन करने की इच्छा करे, वह अजितेन्द्रिय मूर्ख पापभूत प्रिया को छोड़कर, फिर उसी का सेवन करता है।

१०३०. बलं तु पापस्य महत्सुघोरम्।

बोधिच, १.६

पाप की शक्ति अत्यधिक भयंकर होती है।

१०३१. मायापुरुषघातादौ चित्ताभावान् पापकम्।

बोधिच, ९.११

माया-पुरुष का वध करने से पाप नहीं लगता क्योंकि उसमें चित्त (चैतन्य) नहीं होता।

१०३२. न हि शक्यमदृश्यमानेन क्वचित्पापमाचरितुम्। कुतः?
रहोऽनुपपत्तेः।

जामा, पृ. १६९

किसी के लिए कहीं भी छिपकर पाप का आचरण करना सम्भव ही नहीं है क्योंकि एकान्त का अस्तित्व ही असिद्ध है।

बुद्ध

१०३३. कप्पानि विचेय्य केवलानि, संसारदुभयं चुतूपपातं।
विगतरजमनङ्गणं विसुद्धं, पत्तं जातिक्खयं तमाहु बुद्धन्ति॥

सुनि, ३.६.८

जिसने सम्पूर्ण तृष्णा का मननकर, संसार की उत्पत्ति और च्युति दोनों को जान लिया है, जो तृष्णा आदि मलों से रहित तथा निर्मल है, विशुद्ध है, जिसने जन्म-क्षय को प्राप्त कर लिया है, उसे बुद्ध कहते हैं।

१०३४. किच्छो बुद्धानमुत्पादो। (पा.)
कृच्छ्रो बुद्धानामुत्पादः। (सं.)

धप, १८२

बुद्धों का प्रादुर्भाव कठिन है।

१०३५. बोधयत्यबुधान् सत्त्वास्तेन बुद्धो निरुच्यते।

लवि, २६.१४८०

बोधहीन प्राणियों को बोध कराते हैं, इसलिए बुद्ध कहे जाते हैं।

१०३६. जगद्धिताय बुद्धो हि बोधमाप्नोति शाश्वतम्।
अत एव च जीवानां सर्वेषां तु हिते रतः।

बु., १५.२८

जगत् हित के लिए बुद्ध शाश्वत बोध प्राप्त करता है। अतएव सब जीवों के हित में रत रहता है।

ब्राह्मण

१०३७. कम्मुना होति ब्राह्मणो।

सुनि, ९.६.२६

कर्म से ही ब्राह्मण होता है।

१०३८. बाहेत्वा सब्बपापानि (सभियाति भगवा), विमलो साधुसमाहितो ठिततो।
संसारमतिच्च केवली सो असितो तादि पवुच्चते स ब्रह्मा॥

सुनि, ३.६.१०

जो सब पापों को बहाकर निर्मल, साधु, एकाग्रचित्त, स्थितात्मा, संसार-पारंगत, केवली (=ज्ञानी) अनासक्त और स्थिर है, वह ब्राह्मण कहा जाता है।

१०३९. वेदानि विचेय्य केवलानि (सभया ति भगवा)

समणानं यानिधत्थि ब्राह्मणानं।

सब्बवेदनासु वीतरागो, सब्बं वेदमतिच्च वेदगू सो॥

सुनि, ३.६.२०

जो यहाँ श्रमणों और ब्राह्मणों की सम्पूर्ण अवस्थाओं को जान गया है, जो सब वेदनाओं में रागरहित है, जो सब वेदनाओं से परे है, वह वेदज्ञ है।

१०४०. सुत्वा सब्बधम्मं अभिज्जाय लोके (सभिया'ति भगवा)

सावज्जानवज्जं यदत्थि किञ्चि।

अभिभुं अकथंकथिं विमुत्तं, अनीषं सब्बधिमाहु सोत्थियो'ति॥

सुनि, ३.६.२५

इस संसार में जो भी सदोष और निर्दोष बातें हैं, उन सबको सुनकर भली प्रकार जानकर जो विजयी, संशयरहित और विमुक्त हो गया है और जो सब प्रकार के राग से रहित है, उसे श्रोत्रिय कहा जाता है।

१०४१. न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो।

कम्मना ब्राह्मणो होति, कम्मना होति अब्राह्मणो।

सुनि, ३.९.५७

जन्म से न ब्राह्मण होता है, न जन्म से अ-ब्राह्मण। कर्म से ब्राह्मण होता है (और) कर्म से अ-ब्राह्मण।

१०४२. तपेन ब्रह्मचरियेन, संयमेन दमेन च।

एतेन ब्राह्मणो होति एतं ब्राह्मणमुत्तमम्॥

सुनि, ३.९.६२

तप, ब्रह्मचर्य, संयम और दम—इनसे ब्राह्मण होता है, यही उत्तम ब्राह्मण है।

१०४३. न ब्राह्मणस्स परनेय्यमत्थि, धम्मेसु निच्छेय्य समुगगहीतं।

तस्मा विवादानि उपातिवत्तो, न हि सेट्ठतो पस्सति धम्ममज्जं॥

सुनि, ४.१३.१३

ब्राह्मण दूसरे के सहारे नहीं रहता, वह धार्मिक दृष्टियों से दृढ़ग्राही नहीं होता, इसलिये विवाद से परे है, वह दूसरे धर्म को श्रेष्ठ नहीं मानता।

१०४४. बाहितपापोति ब्राह्मणो। (पा.)

वाहितपाप इति ब्राह्मणः। (सं.)

धप, ३८८

(जिसने) पाप बहा दिये हैं, वह ब्राह्मण है।

१०४५. यम्हि सच्चं च धम्मो च, सो सुखी सो च ब्राह्मणो। (पा.)
यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च स शुचिः स च ब्राह्मणः। (सं.)

धप, ३९३

जिसमें सत्य और धर्म है, वही सुखी है और वही ब्राह्मण है।

१०४६. रागद्वेषविनिर्मुक्तस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

व., १४.

राग और द्वेष से जो मुक्त है उसी को देवगण ब्राह्मण कहते हैं।

१०४७. सर्वभूते दया ब्रह्म एतद् ब्राह्मणलक्षणम्।

व., १५.

सभी प्राणियों के प्रति दया रखने वाला ब्राह्मण कहा जाता है।

१०४८. तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम्।

व., २२

तप से मनुष्य ब्राह्मण बनता है। अतः जाति इसमें कारण नहीं है।

१०४९. ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः।

व., २८

जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करे वह ब्राह्मण है।

१०५०. शीलगुणैर्द्विजाः।

व., ४२

सदाचरण के गुणों वाला ब्राह्मण होता है।

१०५१. ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात्प्रत्यवरो भवेत्।

व., ४३

ब्राह्मण होकर भी यदि कोई क्रियाशून्य हो तो वह शूद्रों से भी निम्न है।

१०५२. विद्या विज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम्।

व., ४८

विद्या, विज्ञान और आस्तिकता ये ही ब्राह्मण के लक्षण हैं।

१०५३. मुक्तश्चरति यो धर्मं तमेव ब्राह्मणं विदुः।

व., ५१

जो व्यक्ति निर्भय होकर धर्माचरण करता है वही वस्तुतः ब्राह्मण कहा जाता है।

भय

१०५४. पुञ्जपापपहीनस्स, नत्थि जागरतो भयं॥ (पा.)
पुण्यपापप्रहीणस्य नास्ति जाग्रतो भयम्। (सं.)

धप, ३९

पाप और पुण्य से हीन प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए भय नहीं है।

१०५५. सब्बे तसन्ति दण्डस्स। (पा.)
सर्वे त्रस्यन्ति दण्डस्य। (सं.)

धप, १२९

सभी (प्राणी) दण्ड से डरते हैं।

१०५६. जरा व्याधिश्च मृत्युश्च लोकस्यास्य महद्भयं।
नास्ति देशः स यत्रास्य तद्भयं नोपपद्यते॥

सौ., १५.४६

जरा, व्याधि और मृत्यु इस संसार के सबसे बड़े भय हैं। यहाँ ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ यह भय उत्पन्न न होता हो।

१०५७. सर्वो हि संसारगतो भयार्तो।

सौ., १८.३२

संसार में रहने वाले सभी व्यक्ति भय से पीड़ित हैं।

भाषण

१०५८. तमेव भासं भासेय्य, यायत्तानं न तापये।
परे च न विहिंसेय्य, सा वे वाचा सुभासिता॥

सुनि, ३.३.२

उसी बात को बोलें जिससे न स्वयं कष्ट पाएँ और न दूसरे को ही दुःख हो।

१०५९. पियवाचमेव भासेय्य, या वाचा पटिनन्दिता।

सुनि, ३.३.३

जो बात आनन्दमयी हो उसी प्रिय बात को बोलें।

१०६०. अभूतवादी निरयं उपेति।

सुनि., ३.१०.५

असत्यभाषी नरक को जाता है।

१०६१. सुभाषिता वाचा अफलो होति अकुब्बतो॥ (पा.)
सुभाषिता वाग् अफला भवति अकुर्वतः। (सं.)

धप, ५१

कथनानुकूल (कार्य) न करने वाले व्यक्ति के अच्छी तरह कहे हुए वाक्य भी व्यर्थ होते हैं।

१०६२. सुभाषिता वाचा, सफला होति सकुब्बतो॥ (पा.)
सुभाषिता वाक् सफला भवति कुर्वतः। (सं.)

धप, ५२

कथनानुकूल (कार्य) करने वाले व्यक्ति के भली-भाँति कहे हुए वाक्य भी सफल होते हैं।

१०६३. दुक्खा हि सारम्भकथा, पटिदण्डा फुसेय्यु तं। (पा.)
दुःखा हि संरम्भकथाः प्रतिदण्डाः स्पृशेयुस्त्वाम्। (सं.)

धप, १३३

क्रोधयुक्त वचन दुःखदायी होते हैं (उन्हें बोलने से) दण्ड तुम्हारा ही स्पर्श करेगा।

१०६४. मावोच फरुसं कञ्चि, बुत्ता पटिवदेय्यु तं। (पा.)
मा वोच परुषं किञ्चिद् उक्ताः प्रतिवदेयुः त्वाम्। (सं.)

धप, १३३

किञ्चिन्मात्र भी कठोर वचन मत बोलो (क्योंकि कठोरता से बोले गये मनुष्य) तुम्हारे प्रति (भी) वैसा ही बोलेंगे।

१०६५. न तेन पण्डितो होति यावता बहु भासति। (पा.)
न तेन पण्डितो भवति यावता बहुभाषते। (सं.)

धप, २५८

बहुभाषण से कोई पण्डित नहीं हो जाता।

१०६६. प्रहीणदोषो ह्यनृतं न वक्ष्यति।

बु, ९.७६

दोषशून्य व्यक्ति मिथ्या नहीं बोलेगा।

१०६७. दुर्लभं तु प्रियहितं स्वादु पथ्यमिवौषधं।

सौ., ११.१६

प्रिय और हितकारी वचन उसी प्रकार दुर्लभ हैं, जैसे स्वादिष्ट और रोग दूर करने वाली औषधि।

१०६८. यस्य प्रमाणं न भवेत्प्रमाणं न भवेत्प्रमाणं कस्तस्य कुर्याद्वचनं प्रमाणम्।

व., २

जो व्यक्ति प्रमाणों को प्रमाणरूप में स्वीकार नहीं करता, उसके वचन को प्रमाण कौन मान सकता है? अथवा प्रमाणों को अप्रमाण मानने वाले व्यक्ति के वचन को प्रमाण कैसे माना जा सकता है?

१०६९. विश्वस्तविन्यस्तपदं विस्पष्टार्थं मनोरमम्।
श्रुतिसौख्यं कृपामूलं मृदुमन्दस्वरं वदेत्॥

बोधिच, ५.७९
विश्वस्त, व्यवस्थित पदयुक्त, स्पष्ट अर्थवाले, मनोहर, कर्णप्रिय, कृपामूलक, मृदु तथा मन्द स्वर में बोलना चाहिये।

१०७०. विप्रियं हि न कथ्यते।

अप्रिय बात नहीं कही जाती है।

जामा, ९.८३

१०७१. वाशितार्थस्वहृदयाः प्रायेण मृगपक्षिणः।
मनुष्याः पुनरेकीयास्तद्विपर्ययनैपुणाः॥

जामा, २२.१९

पशु-पक्षियों के मन उनके वचन के अनुरूप ही होते हैं। केवल मनुष्य ही इसके विपरीत व्यवहार करने में निपुण होते हैं।

१०७२. को हि क्षते क्षारमिवावसिञ्चेद् रूक्षाक्षरं विस्खलितेषु वाक्यम्।
प्रिये तु पुत्रेऽपि चिकित्सकस्य प्रवर्तते व्याधिवशाच्चिकित्सा॥

जामा, २६.२९

कौन सत्पुरुष पापियों को कठोर वचन कहकर उसके घाव पर नमक छिड़केगा? किन्तु चिकित्सक अपने प्रिय पुत्र की भी रोग के कारण चिकित्सा करता ही है।

भिक्षु

१०७३. परमं परमं ति यो ध जत्वा अक्खाति विभजति इधेव धम्मं।
तं कङ्खच्छिदं मुनिं अनेजं दुतियं भिक्खुनमाहु मग्गदेसि॥

सुनि, १.५.५

जो परमार्थ को यहाँ जानकर यहीं धर्म को बतलाता है और उसकी व्याख्या करता है वह सन्देहरहित, तृष्णामुक्त मुनि द्वितीय भिक्षु मार्गदेशी कहलाता है।

१०७४. यो धम्मपदे सुदेसिते मग्गे जीवति संयतो सतीमा।
अनवज्जपदानि सेवमानो ततियं भिक्खुनमाहु मग्गजीविं॥

सुनि, १.५.६

जो सुरक्षित धम्मपद के अनुसार संयमित और स्मृतिमान् हो मार्ग में जीता है, निर्दोष धर्म का यत्न करने वाला वह तृतीय भिक्षु मार्गजीवी कहलाता है।

१०७५. पज्जेन कत्तेन अत्तना, परिनिब्बाणगतो वितिण्णकङ्खो।
विभवं च भवं च विप्पहाय, वुसितवा खीणनपुनब्भवो स भिक्खु॥

सुनि, ३.६.५

जिसने स्वयं अपने द्वारा निर्मित मार्ग पर चलकर, संशय रहित हो परिनिर्वाण प्राप्त कर लिया है, जिसने जन्म-मृत्यु को त्याग दिया है, जिसने ब्रह्मचर्य पूर्ण कर लिया है और जिसका पुनर्जन्म क्षीण हो गया है, वह भिक्षु है।

१०७६. सन्तो च भिक्खु अभिनिब्बुततो, इति' हन्ति सीलेसु अकत्थमानो।
तमरियधम्मं कुसला वदन्ति, यस्सुस्सदा नत्थि कुहिञ्चि लोके।

सुनि, ४.३.४

जो भिक्षु शान्त है, उपशान्त है और अपने शीलों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता, जिसे संसार में कहीं राग नहीं है, उसे कुशल लोग आर्य धर्म कहते हैं।

१०७७. निन्दाय नप्पवेधेय्य, न उण्णमेय्य पसंसितो भिक्खु।
लाभ सह मच्छरियेन, कोधं पेसुनियं च पनुदेय्य।

सुनि, ४.१४.१४

भिक्षु निन्दा से विचलित न हों, प्रशंसा से न फूलें और लाभ, कंजूसी, क्रोध तथा चुगली को त्याग दें।

१०७८. कामेसु ब्रह्मचरियवा (मेत्तेय्याति भगवा) वीततण्हो सदा सतो।
संखाय निब्बुतो भिक्खु, तस्स नो सन्ति इञ्जिता॥

सुनि, ५.३.२

जो भिक्षु काम-भोगों का त्यागी, ब्रह्मचारी, तृष्णा-रहित, स्मृतिमान् और ज्ञान द्वारा मुक्त है, उसमें चंचलताएँ नहीं हैं।

१०७९. सब्बत्थ संवृतो भिक्खु सब्बदुक्खा पमुच्चति। (पा.)
सर्वत्र संवृतो भिक्षुः सर्वदुःखात् प्रमुच्यते। (सं.)

धप, ३६१

सर्वत्र व्यवहार को देखने वाला भिक्षु सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है।

१०८०. दध्माति कवचं भूपो रिपुसेनाजिगीषया।
वेषं गृह्णाति भिक्षुरच दोषसेनाजिगीषया॥

बु, १६.१४

जिस प्रकार राजा, शत्रु की सेना को जीतने की इच्छा से कवच को धारण करता है उसी प्रकार दोषों (विकारों) की सेना को जीतने की इच्छा से, भिक्षु भी वेष धारण करता है।

मङ्गलकामना

१०८१. सर्वे च सत्त्वाः सुखिनो भवन्तु।

सुप्रसू., ४.८१

सभी प्राणी सुखी हों।

१०८२. मा कस्यचिद्धावतु दुःखवेदना सुदर्शनाः सत्त्व भवन्तु सर्वे।
अभिरूपप्रासादिकसौम्यरूपा अनेकसुखसंचित नित्य भोन्तु॥

सुप्रसू., ४.८२

किसी को दुःख का अनुभव न हो, सभी प्राणी शुभ दर्शनों वाले हों, वे सुखद, सुशील और सुन्दर आकार वाले हों और निरन्तर अनेक सुखों को प्राप्त करने वाले हों।

१०८३. मा दुःखशब्दाः क्वचि लोकि भोन्तु मा चैकसत्त्वः प्रतिकूलदर्शी।
सर्वे च ते भोन्तु उदारवर्णाः प्रभङ्करा भोन्तु परस्परेण॥

सुप्रसू., ४.८५

लोक में कहीं भी दुःख के शब्द न रहें और प्राणी परस्पर विरोध न रखें, परस्पर ज्ञानरूपी प्रकाश देते हुए सभी श्रेष्ठ गुणों वाले हों।

१०८४. वर्षन्तु अद्या इह जम्बूद्वीपे, सप्तर्त्नाणि च भूषणानि।

ये चेह सत्त्वाः खलु जम्बूद्वीपे, सुखिताश्च मेघ्यन्ति महाधनाश्च॥

सुप्रसू., १४.२३

इस जम्बूद्वीप में सात रत्नों से निर्मित आभूषणों की वर्षा होती रहे तथा इस जम्बूद्वीप में प्राणी सुखी रहें तथा धन-सम्पन्न रहें।

मद्य

१०८५. प्रमुखस्वादुपानं हि दोषदर्शनविकलवान्।

श्रेयसोऽपहरत्येव रमणीयमिवापथम्॥

जामा, १७.३

आरम्भ में स्वादिष्ट लगने वाला यह मद्यपान, दोषों को देखने में असमर्थ लोगों को रमणीय कुमार्ग की भाँति कल्याण से दूर खींच ले जाता है।

१०८६. यत्पीत्वा मदरोषविह्वलतया स्वतन्त्रश्चरन्

देशेष्वप्रपतेष्वपि प्रपतितो मन्दप्रभावस्मृतिः।

भक्ष्याभक्ष्यविचारणाविरहितस्तत्तत्समास्वादयेत्

तत् (मद्यम्) ...॥

जामा, १७.१३

जिसे पीकर नशे की व्याकुलता में स्वच्छन्द होकर मनुष्य चेतनाशून्य होकर समतल भूमि पर भी फिसलता है और खाने-न-खाने योग्य वस्तुओं के बारे में विवेक-रहित बनकर हर किसी वस्तु को खा लेता है, वह मद्य है।

१०८७. अनीशः स्वे चित्ते विचरति यया संहतमति—

द्विषां हासायासं समुपजनयन्नौरिव जडः।

सदो मध्ये नृत्येत्स्वमुखपटहेनापि

च यया (सुरया)...॥

जामा, १७.१५, पृ. २१७

जिस (वस्तु) को पीने से मनुष्य हतबुद्धि होकर अपने मन पर नियन्त्रण खो देता है और मूर्ख बैल की तरह शत्रुओं के लिए हास्यास्पद बन जाता है, जिसको पीने से सभा में जाकर अपने मुखरूपी ढोल को बजाता हुआ नृत्य करता है, वह सुरा है।

१०८८. पीत्वोचितामपि जहाति—ययात्मलज्जां निर्ग्रन्थवद्वसनसंयमखेदमुक्तः।
धीरं चरेत्पथिषु पौरजनाकुलेषु सा (सुरा) ...॥

जामा, १७.१५, पृ. २१७

जिस (पेय) को पीकर मनुष्य स्वाभाविक आत्मलज्जा को भी खो देता है और नग्न व्यक्ति के समान कपड़े पहिनने या सम्हालने के परिश्रम से मुक्त होकर नागरिकों से (भीड़) भरे रास्तों पर धीरे-धीरे चलता है। वह सुरा है।

१०८९. यत्पीत्वा वमथुसमुदगतानलिप्ता निःशङ्कैःश्वभिरवलिह्यमानवक्त्राः।
निःसञ्ज्ञा नृपतिपथिष्वपि स्वपन्ति (तन्मद्यम्)...॥

जामा, १७.१६, पृ. २१७

जिसे पीकर लोग बेहोश होकर राजमार्ग पर सोते हैं और वमन क्रिया से निकले हुए अन्न से लिप्त उनके मुखों को कुत्ते निर्भय होकर चाटते हैं—वह मद्य है।

१०९०. उपयुज्य यन्मदबलादबला विनिबन्धयेदपि तरौ पितरौ।
गणयेच्च सा धनपतिं न पतिं (तन्मद्यम्)...॥

जामा, १७.१७, पृ. २१७

जिस (पेय वस्तु) का उपभोग करके मदमस्त बनी अबला नारी भी अपने माता-पिता को वृक्ष पर बाँध सकती है या अपने धनवान् पति को भी तिरस्कृत कर सकती है, वह मद्य है।

१०९१. यां पीतवन्तो मदलुप्तसञ्ज्ञा वृष्ण्यन्धका विस्मृतबन्धुभावाः।
परस्परं निषिपिषुर्गदाभिरुन्मादिनी सा (सुरा)...॥

जामा, १७.१८, पृ. २१७

जिसको पीने से नशे में संज्ञा-शून्य होकर वृष्णि-अन्धकों (दो पौराणिक राक्षसों) ने बन्धुभाव को भूलकर गदा के प्रहारों से एक-दूसरे को चूर-चूर कर दिया वही पागल कर देने वाली सुरा है।

१०९२. यत्र प्रसक्तानि कुलानि नेशुर्लक्ष्मीनिकेतान्युदितोदितानि।
उच्छेदनी वित्तवतां कुलानां सेयं (सुरा)...॥

जामा, १७.१९

जिस के प्रति आसक्त कितने ही ऐश्वर्य-सम्पन्न वंश नष्ट हो गए, धनवानों के कुलों का विनाश करने वाली यह वही वस्तु सुरा है।

१०९३. अनियतरुदितस्थितविहसितवाग्जडगुरुनयनो ग्रहवशग इव।
परिभवभवनं भवति च नियतं यदुपहतमतिस्तदिदं (मद्यम्)॥

जामा, १७.२०

जिसका उपभोग करने वाले का रोना, हँसना, बैठना, बोलना (आदि सारा व्यवहार) अनियन्त्रित हो जाता है, ग्रहों के वशीभूत व्यक्ति की तरह आँखें भारी और निश्चल हो जाती हैं तथा जिसके कारण हतबुद्धि होकर मनुष्य निश्चय ही अपमान का पात्र बन जाता है वही वस्तु मद्य है।

१०९४. प्रवयसोऽपि यदाकुलचेतनाः स्वहितमार्गसमाश्रयकातराः।
बहु वदन्त्यसमीक्षितनिश्चयं...॥

जामा, १७.२१

जिस (शराब को पीने) से व्याकुल चित्त वाले वयस्क पुरुष भी अपनी भलाई के रास्ते पर चलने में असमर्थ हो जाते हैं और बिना सोचे-समझे बहुत बोलने लगते हैं।

१०९५. यस्या दोषात्पूर्वदेवाः प्रमत्ता लक्ष्मीमोषं देवराजादवाप्य।
त्राणापेक्षास्तोयराशौ ममज्जुः सा (सुरा)...॥

जामा, १७.२२

जिस (वस्तु की आसक्ति) के कारण प्राचीन काल में देवों ने असावधानियाँ कीं, देवराज इन्द्र के द्वारा लक्ष्मी से वञ्चित किए गए और रक्षा के लिए समुद्र में जाकर डुबकी लगा गये, वह सुरा है।

१०९६. ब्रूयादसत्यमपि सत्यमिव प्रतीतः कुर्यादकार्यमपि कार्यमिव प्रहृष्टः।
यस्या गुणेन सदसत्सदसच्च विद्याच्छापस्य मूर्तिरिव सा (सुरा)...॥

जामा, १७.२३

जिसके प्रभाव से असत्य को भी विश्वासपूर्वक सत्य मानकर कहे, अकार्य को भी कार्य (कर्तव्य) समझकर खुशी से करे, सत् को असत् और असत् को सत् समझे, ऐसी साक्षात् अभिशाप की तरह वही वस्तु सुरा है।

१०९७. उन्मादविद्यां व्यसनप्रतिष्ठां साक्षादलक्ष्मीं जननीमघानाम्।
अद्वैतसिद्धां कल्पिपद्धतिं तां (सुराम्)...॥

जामा, १७.२४

यह उन्माद पैदा करने वाली विद्या है। विपत्ति का घर है। साक्षात् अलक्ष्मी (दारिद्र्य) है। पापों की जननी और कलि का निश्चित मार्ग है।

१०९८. परिमुषितमतिर्यया निहन्यादपि पितरं जननीमनागसं वा।
अविगणितसुखायतिर्यतिं तां (सुराम्)...॥

जामा, १७.२५

इस (मद्य-पान) से मनुष्य बुद्धिशून्य होकर, भावी सुख की उपेक्षा करके निष्पाप माता-पिता या मुनि की हत्या तक कर सकता है।

१०९९. निषेव्य यददुश्चरितप्रसक्ताः पतन्ति भीमान्तरकप्रपातान्।
तिर्यग्गतिं प्रेतदरिद्रतां च को नाम तद्द्रष्टुमपि व्यवस्येत्॥

जामा, १७.२७

जिस (मद्य) का उपभोग करके मनुष्य कुकर्मों में फँसकर भयंकर नरकों में पशुपक्षियों की योनि में तथा कष्टदायी प्रेतयोनि में गिरते हैं उसे कोई (समझदार) देखने का भी विचार कर सकता है?

११००. लघुरपि च विपाको मद्यपानस्य यः स्या—
 मनुजगतिगतानां शीलदृष्टोः स हन्ति।
 ज्वलितदहनरौद्रे येन भूयोऽप्यवीचौ
 निवसति पितृलोके हीनतिर्यक्षु चैव॥

जामा, १७.२८, पृ. २१९

जिस मद्यमान का थोड़ा-सा भी फल मनुष्य-योनि में रहने वालों के आचार-विचार की हत्या कर देता है और जिसके कारण पुनः (परलोक में) प्रज्वलित भयंकर अग्नि से भयंकर अपीचि नरक में, पितृलोक में और पशु-पक्षियों की निकृष्ट योनि में रहना पड़ता है।

११०१. शीलं निमीलयति हन्ति यशः प्रसह्य
 लज्जां निरस्यति मतिं मलिनीकरोति।
 यन्नाम पीतमुहन्ति गुणाञ्च तांस्तान् (तन्मद्यम्)॥

जामा, १७.२९, पृ. २२०

जो शील का नाश करता है, कीर्ति की बलात् हत्या करता है, लज्जा को दूर करता है, बुद्धि को मलिन करता है और नाना प्रकार के सद्गुणों को नष्ट करता है वह मद्य है।

मनुष्यता

११०२. किच्छो मनुस्सपटिलाभो। (पा.)
 कृच्छो मनुष्यप्रतिलाभः (सं.)

धप, १८२

मनुष्य-जन्म मिलना कठिन है।

११०३. दुरवाप्यं मानुष्यम्।

लवि, २६.१४३३

मनुष्यता कठिनाई से हाथ आती है।

११०४. क्षणसम्पदियं सुदुर्लभा, प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी।
 यदि नात्र विचिन्त्यते हितं, पुनरप्येष समागमः कुतः॥

बोधिच, १.४.

पुरुषार्थ सिद्ध करने वाली अत्यन्त दुर्लभ यह (मानव-जन्मरूपी) क्षण-सम्पदा प्राप्त हुई है। यदि इसमें अपने हित कल्याण की चिन्ता नहीं हो सकी तो फिर ऐसा समागम कहाँ मिलेगा?

११०५. मानुष्यमतिदुर्लभम्।

बोधिच, ४.२०

मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है।

११०६. मानुष्यं नावमासाद्य तर दुःखमहानदीम्।
मूढ! कालो न निद्राया इयं नौर्दुर्लभा पुनः॥

बोधिच, ७.१४.

मानव-जन्मरूपी नौका को प्राप्त करके दुःखरूपी महानदी को पार कर लो। हे मूर्ख! यह शयन करने का समय नहीं है। यह नौका फिर दुर्लभ है।

मानदण्ड

११०७. दीघा जाग्रतो रत्ति। (पा.)
दीर्घा जाग्रतो रात्रिः। (सं.)

धप, ६०

जागते हुए की रात लम्बी हो जाती है।

११०८. दीघं सन्तस्स योजनं। (पा.)
दीर्घं श्रान्तस्य योजनम्। (सं.)

धप, ६०

थके हुए (राहगीर) का योजन भी बड़ा हो जाता है।

मित्रता- सङ्गति

११०९. सेट्ठा समा सेवितब्बा सहाया।

सुनि, १.३.१३

श्रेष्ठ और समान मित्रों का साथ करना चाहिये।

१११०. निक्करणा दुल्लभा अज्ज मिता।

सुनि, १.३.४१

आजकल निःस्वार्थी मित्र दुर्लभ हैं।

११११. न सो मित्तो यो सदा अप्पमत्तो, भेदासंकी रंधमेवानुपस्सी।
यस्मिं च सेति उरसीव पुत्तो, स वे मित्तो यो परेहि अभेज्जो॥

सुनि, २.३.३

जो सदा मित्रता दिखाने की चेष्टा करते हुए फूट डालने के चक्कर में रहता है तथा छिद्रान्वेषण किया करता है वह मित्र नहीं है। जो माता की गोद में सोये हुए पुत्र की भाँति विश्वास और प्रेम प्रदान करता है, जो दूसरों के द्वारा फोड़ा नहीं जा सकता है—वही मित्र है।

१११२. तस्मा हवे सप्पुरिसं भजेथ मेधाविनं चेव बहुस्सुतं च।

सुनि, २.८.८

बुद्धिमान्, बहुश्रुत सत्पुरुष की संगति करनी चाहिये।

१११३. सन्निवासो सदा सुखो। (पा.)
सन्निवासः सदा सुखः। (सं.)

धप, २०६

सन्तों के साथ निवास हमेशा सुखदायक है।

१११४. धीरो च सुखसंवासो, जातीनं व समागमो। (पा.)
धीरश्च सुखसंवासः जातीनामिव समागमः। (सं.)

धप, २०७

धैर्यशाली के साथ रहना, जाति वालों के समागम के समान सुखद होता है।

१११५. बालसङ्गतचारी हि दीषमद्धान सोचति। (पा.)
बालसङ्गतिचारी हि दीर्घमध्वानं शोचति। (सं.)

धप, २०७

मूर्ख की संगति में चलने वाला मार्ग में बहुत दूर तक निश्चय ही पश्चाताप करता है।

१११६. दुक्खो बालेहि संवासो अमित्तेनेव सम्बदा॥ (पा.)
दुःखो बालैः संवासः अमित्रेणेव सर्वदा। (सं.)

धप, २०७

मूर्खों के साथ निवास सदैव दुःखदायी होता है, जैसे कि शत्रु के साथ निवास (दुःखदायी होता है)।

१११७. अत्थमिह जातमिह सुखा सहाया। (पा.)
अर्थे जाते सुखाः सहायाः। (सं.)

धप, ३३१

काम आ जाने पर सहायक (=मित्र) सुखकर होते हैं।

१११८. अहितात् प्रतिषेधश्च हिते चानुप्रवर्तनम्।
व्यसने चापरित्यागस्त्रिविधं मित्रलक्षणम्॥

बु, ४.६४

अहित में निषेध करना, हित में नियुक्त करना, विपत्ति में भी न छोड़ना ये ही मित्र के तीन लक्षण हैं।

१११९. सुलभाः खलु संयुगे सहाया विषयावाप्तसुखे धनार्जने वा।
पुरुषस्य तु दुर्लभाः सहायाः पतितस्यापि धर्मसंश्रये वा॥

बु, ५.७६

निश्चय ही संग्राम में, विषयजन्य सुख में तथा धन-व्यवसाय में सहायक सुलभ होते हैं। किन्तु आपत्ति में गिरने पर तथा धर्म का आश्रय लेने पर पुरुष के सहायक दुर्लभ हैं।

११२०. वरं मनुष्यस्य विचक्षणो रिपुर्न मित्रमप्राज्ञमयोगपेशलम्।

बु, ८.३५

मनुष्य का पण्डित शत्रु अच्छा, किन्तु भूख मित्र अच्छा नहीं जो कि वियोग कर देने में कुशल हो।

११२१. सद्भिः सहीया हि सतां समृद्धिः।

बु, १०.२६

सज्जनों की संगति से सज्जनों की ही समृद्धि होती है।

११२२. असत्सु मैत्री स्वकुलानुवृत्ता न तिष्ठति श्रीरिव विक्लवेषु।

पूर्वैः कृतां प्रीतिपरम्पराभिस्तामेव सन्तस्तु विवर्धयन्ति॥

बु, ११.३

अपनी कुल-परम्परा से आने वाली मैत्री दुर्जनों में नहीं टिकती है— जिस प्रकार लक्ष्मी चञ्चल चित्त वालों में नहीं टिकती। किन्तु पूर्वजों द्वारा की हुई उसी मैत्री को सज्जन गण प्रतिदिन की परम्परा से बढ़ा लेते हैं।

११२३. महतां दर्शनं पुण्यं केषाञ्चिदुपजायते।

बु, २०.७

महापुरुषों का पुनीत दर्शन किन्हीं (भाग्यवानों) को ही होता है।

११२४. वातोऽपि सुमनःसङ्गाद् गन्धवान् भवति क्षणात्।

मेरुसङ्गात्स्वर्णरूपाः संभवन्ति पतत्रिणः॥

बु, २०.८

वायु भी पुष्प के संग से सुगन्धित हो जाती है, और सुमेरु (पर्वत) के संग से पक्षी सोने के हो जाते हैं।

११२५. सङ्गं वाञ्छन्ति साधूनामार्याणां ये नरोत्तमाः।

नूनमूर्ध्वमघः स्थानात्क्षिप्रं जिगमिषन्ति ते॥

बु, २०.१४

जो नर श्रेष्ठ आर्य साधुओं का संग चाहते हैं वे सच में निम्न (नीचे) स्थान से शीघ्र ऊपर जाना चाहते हैं।

११२६. न स मित्रं न यस्मिन्स्युर्मित्रोक्ताः शोभना गुणाः।

बु, २०.४५

वह मित्र नहीं, जिसमें मित्र के बताये गये सुन्दर गुण न हों।

११२७. मित्रवाक्यमनादृत्य विपद्भिरभिभूयते॥

बु, २८.५३

मित्र-वचन का अनादर करने वाले विपत्तियों से घिर जाते हैं।

११२८. हितस्य वक्ता प्रवरः सुहृद्भ्यो।

सौ., ५.२५

हित की बात कहने वाला मित्रों में श्रेष्ठ है।

११२९. स्वजनः स्वजनेन भिद्यते सुहृदश्चापि सुहज्जनेन।

सौ., ८.३३

स्वजन, स्वजन से और मित्र, मित्र से भी अलग होता है।

११३०. विश्वासश्चार्थचर्या च सामान्यं सुखदुःखयोः।

मर्षणं प्रणयश्चैव मित्रवृत्तिरियं सताम्॥

सौ., ११.१७

विश्वास, अर्थचर्या और दुःख तथा सुख में समान भाव, क्षमा तथा प्रेम यही सब सज्जनों का मैत्रीपूर्ण व्यवहार होता है।

११३१. चलं सौहृदमर्थानाम्।

जामा, ५.६, पृ. ५१

धन की मित्रता कभी स्थिर नहीं होती है।

११३२. सुहृत्प्रतिज्ञैः सुहृदि प्रमत्ते न्याय्यं हितं रूक्षमपि प्रयोक्तुम्।

जामा, २०.२३, पृ. २५१

मित्र के प्रमादी होने पर, मित्रों को न्यायपूर्ण तथा भलाई की बात अवश्य ही कहनी चाहिये चाहे वे रूखी हों।

११३३. अद्धा धर्मः सतामेष यत्सखा मित्रमापदि।

न त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोर्धर्ममनुस्मरन्॥

जामा, २२.३५, पृ. २७९

धर्म को स्मरण करता हुआ कोई मित्र विपत्ति में पड़े हुए मित्र को अपने प्राणों के लिए भी न छोड़े— यही तो सत्पुरुषों का धर्म है।

११३४. अजर्यं ह्यार्यसङ्गतम्।

जामा, २२.८८

सत्पुरुषों की मित्रता कभी क्षीण नहीं होती है।

११३५. प्रसन्न एव त्वभिगम्यरूपः शरद्विशुद्धाम्बुमहाहृदाम्।

सुखार्थिनः क्लेशपराङ्मुखस्य लोकप्रसिद्धः स्फुट एष मार्गः॥

जामा, २३.१४

जिस प्रकार शरद् ऋतु के निर्मल जल वाले बादल महासरोवर की ओर उन्मुख होते हैं उसी प्रकार सुख चाहने वाले और दुःख से दूर रहने वाले को प्रसन्नचित्त पुरुष की ही सेवा (संगति) करनी चाहिए। यही संसार प्रसिद्ध स्पष्ट मार्ग है।

११३६. असेवना चात्युपसेवना च याज्वाभियोगाश्व दहन्ति मैत्रीम्।

जामा, २३.१६, पृ. २९९

बिल्कुल व्यवहार न रखने, अत्यधिक व्यवहार रखने और बार-बार माँगने से मित्रता विनष्ट (दग्ध) हो जाती है।

११३७. लोके विरूढयशसापि तु नैव कार्या कार्यार्थमप्यसदृशेन जनेन मैत्री।

हेमन्तदुर्दिनसमागमदूषितो हि सौभाग्यहानिमुपयाति निशाकरोऽपि॥

जामा, २३.६२, पृ. ३१४

संसार में यशस्वी मनुष्य को भी चाहिये कि वह कार्यसिद्धि के लिए भी प्रतिकूल या असमान व्यक्ति से कभी-भी मित्रता स्थापित न करे। हेमन्त ऋतु के दुर्दिन (बदली) से समागम होने पर दूषित हुआ चन्द्रमा अपनी शोभा की हानि ही करता है।

११३८. वात्सल्यसौम्यहृदयस्तु सुहृत्सु कीर्तिं

विश्वासभावमुपकारसुखं च तेभ्यः।

प्राप्नोति सन्नतिगुणं मनसः प्रहर्षं

दुर्धर्षतां च रिपुभिस्त्रिदशालयं च॥

जामा, २४.४१, पृ. ३३०

जिसका मन मित्रों के प्रति प्रेम से भरा हुआ रहता है वह उनका विश्वासपात्र और उपकृत होता है, वही यश, विनय और आनन्द प्राप्त करता है, वह शत्रुओं द्वारा आसानी से जीता नहीं जा सकता है और अन्त में स्वर्ग जाता है।

११३९. न हि मित्रेष्वभिद्रोहः क्वचिद्भवति भूतये।

जामा, २६.१२, पृ. ३४५

मित्र के साथ द्रोह करने से कभी कल्याण नहीं मिलता।

११४०. न खल्वसत्सङ्गतमस्ति भूतये।

जामा, २६.३०

दुर्जनों की मैत्री कभी कल्याणप्रद नहीं होती है।

११४१. तिर्यग्गतानामपि भाग्यशेषं सतां भवत्येव सुखाश्रयाय।

कर्तव्यसम्बन्धिसुहृज्जनानां विदेशगानामिव वित्तशेषम्॥

जामा, २७.१, पृ. ३५७

पशु-पक्षियों की योनि में जन्म लेने पर भी सत्पुरुषों का शेष-भाग (पुण्य) मित्रों के सुख के लिए ही उपयोगी होता है, जैसे विदेश में गये हुए लोगों का बचा हुआ धन मित्रों के काम आता है।

११४२. यदृच्छयाप्युपानीतं सकृत्सज्जनसंगतम्।
भवत्यचलमत्यन्तं नाभ्यासक्रममीक्षते॥

जामा, ३१.७१

यदि संयोग से एक बार भी सज्जन के साथ मित्रता हो जाय तो वह अत्यन्त स्थाई होती है, अभ्यास—क्रम (या बार—बार मिलने और बात करने) की अपेक्षा नहीं है।

११४३. न सज्जनाद्दूरचरः क्वचिद्भवेद्भजेत् साधून् विनयक्रमानुगः।
स्पर्शान्त्ययत्नेन हि तत्समीपगं विसर्पिणस्तद्गुणपुष्परेणवः॥

जामा, ३१.७२

सज्जन से कभी दूर नहीं रहना चाहिये, विनयपूर्वक उसकी सेवा करना चाहिये। उनके गुणरूपी फूलों से उड़ने वाली धूल, उनके पास जाने पर बिना प्रयत्न के भी अवश्य पड़ेगी।

११४४. श्रेयः समाधत्ते यथातथाऽप्युपनतः सत्संगमः।

जामा, पृ. ४२२

सत्संगति जैसे—तैसे भी मिले (सदैव) कल्याणकारिणी होती है।

मुनि

११४५. यो जातुमुच्छिज्ज न रोपयेय्य, जायन्तमस्स नानुप्पवेच्चे।
तमाहु एकं मुनिनं चरन्तं॥

सुनि, १.१२.२

जो उत्पन्न हुए पाप को काटकर फिर न बढ़ाए और उसके उत्पन्न होने पर बढ़ने न दे, उसे एकान्तचारी मुनि कहते हैं।

११४६. सङ्ख्वाय वत्थूनि पहाय बीजं, सिनेहमस्स नानुप्पवेच्चे।

स वे मुनी जातिखयन्तदस्सी तक्कं पहाय न उपेति सङ्गं॥

सुनि, १.१२.३

वस्तुस्थिति को भली प्रकार जानकर, संसार में उत्पन्न करने वाले बीज (तृष्णा) को नष्ट कर, उसे स्नेह नहीं प्रदान करता है, और जो तर्क को त्यागकर अलौकिक हो गया है, जन्म के क्षय (निर्वाण) का दर्शी वही मुनि कहलाता है।

११४७. अज्जाय सब्बानि निवेसनानि, अनिकामयं अज्जतरम्मि तेसं।

स वे मुनी वीतगेधो अगिद्धो, नायूहति पारगतो हि होति॥

सुनि, १.१२.४

सभी काम—लोक आदि को जानकर, उनमें से किसी में भी रहने की कामना न करता हुआ राग—रहित, आसक्ति रहित वही मुनि है, वह पुण्य—पाप का संघय नहीं करता है। वह तो पारंगत हो जाता है।

११४८. सब्बाभिभुं सब्बविदुं सुमेधं, सब्बेसु धम्मेषु अनूपलितं।
सब्बज्जहं तण्हक्खये विमुत्तं, तं वा'पि धीरा मुनिं वेदयन्ति॥

सुनि, १.१२.५

जिसने सबको जीत लिया है, सब कुछ जान लिया है, जो सभी धर्मों (= अवस्थाओं) में लिप्त होने वाला नहीं है, जो सर्वत्यागी है, तृष्णा के क्षय से विमुक्त हो गया है उसे भी ज्ञानी लोग मुनि कहते हैं।

११४९. पज्जाबलं सीलवतूपपन्नं, समाहितं ज्ञानरतं सतीमं।
सज्जा पमुत्तं अखिलं अनासवं, तं वा'पि धीरा मुनिं वेदयन्ति॥

सुनि, १.१२.६

प्रज्ञा और शील-व्रत से मुक्त, एकाग्रचित्त, ध्यान में लीन, स्मृतिमान्, बन्धन से मुक्त और सम्पूर्ण रूप से जो आस्रव-रहित है, उसे भी ज्ञानी लोग मुनि कहते हैं।

११५०. एकं चरन्तं मुनिं अप्पमत्तं, निन्दापसंसासु अवेधमानं।
सीहं व सहेसु असन्तसन्तं, वातं व जालमिह असज्जमानं।
पदुमं व तोयेन अलिप्पमानं, नेतारमज्जेसमनज्जेनेय्यं।
तं वा पि धीरा मुनिं वेदयन्ति॥

सुनि, १.१२.७

अकेले विचरण करने वाले अप्रमादी, निन्दा और प्रशंसा से विचलित न होने वाले, सिंह की भाँति किसी भी प्रकार के शब्दों से न डरने वाले, जाल में हवा के न फँसने के समान, कमल के जल से न लिप्त होने की भाँति, दूसरों का अनुयायी न बनने वालों को भी ज्ञानी लोग मुनि कहते हैं।

११५१. यो ओगहने थम्मोरिवाभिजायति, यस्मिं परे वाचा परियन्तं वदन्ति।
तं वीतरागं सुसमाहितिन्द्रियं, तं वा'पि धीरा मुनिं वेदयन्ति॥

सुनि, १.१२.८

जो स्नान करने के घाट पर खम्भे की भाँति स्थिर रहता है, उसके ऊपर दूसरों की बातों का असर नहीं पड़ता, उस वीतराग और संयत इन्द्रिय वाले को भी ज्ञानी लोग मुनि कहते हैं।

११५२. यो वे ठितत्तो तसरं' व उज्जुं, जिगुच्छति कम्महे पापकेहि।
वीमंसमानो विसमं समं च, तं वा'पि धीरा मुनिं वेदयन्ति॥

सुनि, १.१२.९

जो दृढ़की (=तसर) की भाँति ऋजु और स्थिर चित्त वाला है, जो पापकर्मों से घृणा करता है और जो अच्छे बुरे कर्मों का ध्यान रखता है, उसे भी ज्ञानी लोग मुनि कहते हैं।

११५३. यो सञ्जततो न करोति पापं, दहरो च मज्झो च मुनिं यततो।
अरोसनेय्यो सो न रोसेति कञ्चि तं वा'पि धीरा मुनिं वेदयन्ति॥

सुनि, १.१२.१०

जो संयमी है, पाप नहीं करता है, जो मुनि बचपन और मध्य आयु में संयमी रहता है, जो दूसरे किसी द्वारा क्रोधित नहीं किया जा सकता और जो दूसरों को क्रोधित भी नहीं करता है, उसे भी ज्ञानी लोग मुनि कहते हैं।

११५४. यदगगतो मज्झतो सेसतो वा, पिण्डं लभेथ परदत्तपजीवी।
नालं ध्रुतु नो'पि निपच्चवादी, तं वा पि धीरा मुनिं वेदयन्ति॥

सुनि, १.१२.११

जो अग्रभाग, मध्यभाग या अवशेष भाग से भिक्षा लेता है, जिसकी जीविका दूसरों के दिये पर निर्भर है, जो दायक की प्रशंसा और निन्दा नहीं करता, उसे भी ज्ञानी लोग मुनि कहते हैं।

११५५. मुनिं चरन्त विरतं मेथुनस्मा, यो योब्बने नोपनिबज्झते क्वचि।
मदप्पमादा विरतं विप्पमुत्तं तं वा'पि धीरा मुनिं वेदयन्ति॥

सुनि, १.१२.१२

जो मुनि मैथुन से विरत होकर अकेले विचरण करता है, जो यौवन में भी कहीं आसक्त नहीं होता, जो मद के प्रवाह से विरत तथा मुक्त है, उसे भी ज्ञानी लोग मुनि कहते हैं।

११५६. अज्जाय लोकं परमत्थदस्सिं ओषं समुद्दं अतितरिय तादिं।
तं छिन्नगन्थं असितं अनासवं, तं वा'पि धीरा मुनिं वेदयन्ति॥

सुनि, १.१२.१३

जिसने अपने ज्ञान से लोक को जान लिया है, जो परमार्थदर्शी है, जो सांसारिक बाढ़ और भव-सागर को पारकर स्थिर हो गया है, उस बन्धनहीन, अनासक्त और अनाश्रव को भी ज्ञानी लोग मुनि कहते हैं।

११५७. असतं च सतं च जत्वा धम्मं, अज्झतं च बहिद्धा च सब्बलोके।
देवमनुस्सेहि पूजितो सो, सङ्गं जालमतिच्च सो मुनी'ति॥

सुनि, ३.६.१८

जो सारे संसार में भीतर और बाहर की सत् और असत् बातों को जानकर देव-मनुष्यों से पूजित हैं और जो आसक्ति-रूपी जाल से परे हैं वे मुनि कहे जाते हैं।

११५८. मुनि नत्थि खिलो कुहिश्चि।

सुनि, ४.३.१

मुनि के लिए कहीं भी लोक में (रागादि) की कील नहीं है।

११५९. सब्बत्थ मुनि अनिस्सितो, न पियं कुब्बति नोपि अप्पियं।

सुनि, ४.६.८

मुनि सर्वथा अनासक्त होता है, न वह किसी को प्रिय बनाता है न अप्रिय।

११६०. एवं मुनि नोपलिप्पति, यदिदं दिट्ठसुतं मुत्तेसु वा।

सुनि, ४.६.९

मुनि दृष्टि, श्रुति या विचारित में लिप्त नहीं होता।

११६१. एवं मुनी सन्तिवादो अगिद्धो, कामे च लोके च अनूपलित्तो।

सुनि, ४.९.११

शान्तिवादी, तृष्णा-रहित मुनि काम-भोगों और संसार में लिप्त नहीं होते।

११६२. अक्कोधनो असन्तासी, अविकत्थी अकुक्कुचो।

मन्तभाणी अनुद्धतो, स वे वाचायतो मुनि॥

सुनि, ४.१०.३

जो क्रोध, त्रास, आत्म-प्रशंसा और चंचलतारहित हैं, जो विचारकर बोलने वाला है, अभिमान-रहित और वचन में संयमी है— वह मुनि है।

११६३. सच्चा अवोक्कम्म मुनि, थले तिट्ठति ब्राह्मणो।

सब्ब सो पटिनिस्सज्ज, स वे सन्तो'ति वुच्चति॥

सुनि, ४.१५.१२

श्रेष्ठ मुनि सत्य से न हट कर निर्वाणरूपी स्थल पर स्थित है। सर्वत्यागी वह अवश्य शान्त कहलाता है।

११६४. विसेनिकत्वा अनिघा निरासा, चरन्ति ये ते मुनियोति ब्रूमि।

सुनि, ५.८.२

जो व्यक्ति शोक, पाप और तृष्णा से रहित होकर विचरण करते हैं, उन्हें मैं मुनि कहता हूँ।

११६५. न मौनेन मुनी होति, मूल्हरूपो अविद्दसु। (पा.)

न मौनेन मुनिर्भवति मूढरूपोऽविद्वान्। (सं.)

धप, २६८

मौन धारण करने से साक्षात् मूर्ख और अविद्वान् (व्यक्ति) मुनि नहीं हो जाता।

११६६. यो मुनाति उभो लोके, मुति तेन पवुच्चति॥ (पा.)

यो मनुते उभौ लोकौ मुनिस्तेन प्रोच्यते। (सं.)

धप, २६९

जो (इस) संसार में (पाप और पुण्य) दोनों का मान करता है वह मुनि कहा जाता है।

मृत्यु

११६७. निच्चं मरणतो भयं।

सुनि, ३.८.३

मृत्यु से (प्राणी) नित्य भयभीत होता है।

११६८. सब्बे मच्चुपरायणा।

सुनि, ३.८.५

सभी मरणशील हैं।

११६९. अतितं येव कामेसु, अन्तको कुरुते वसं। (पा.)

अतृप्तमेव कामेषु अन्तकः कुरुते वशम्। (सं.)

धप, ४८

कामवासनाओं से अतृप्त व्यक्ति को मृत्यु अपने वश में कर लेती है।

११७०. न विज्जती सो जगतिण्णदेसो यत्थट्ठितं नप्पसहेय्य मच्चु॥ (पा.)

न विद्यते स जगति प्रदेशो यत्र स्थितं न प्रसहेत मृत्युः। (सं.)

धप, १२८

संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ रहने वाले (व्यक्ति) को मृत्यु न

सतावे।

११७१. सब्बे भायन्ति मच्चुनो। (पा.)

सर्वे विभ्यन्ति मृत्योः। (सं.)

धप, १२९

सभी मृत्यु से भयभीत होते हैं।

११७२. जरा च मच्चु च, आयु पावेन्ति पाणिनं। (पा.)

जरा च मृत्युश्च आयुः प्राजयतः प्राणिनाम्। (सं.)

धप, १३५

बुढ़ापा और मौत प्राणियों की आयु को ले जाते हैं।

११७३. न सन्ति पुत्ता ताणाय न पिता न पि बान्धवा।

अन्तकेनाधिपन्नस्स, नत्थि जातीसु ताणता। (पा.)

न सन्तिपुत्रास्त्राणाय न पिता नापि बान्धवाः।

अन्तकेनाधिपन्नस्य नास्ति ज्ञातिषु त्राणता॥ (सं.)

धप, २८८

मृत्यु के द्वारा पकड़े गये मनुष्य की रक्षा के लिए न पुत्र हैं, न पिता हैं, बन्धुगण भी नहीं हैं। जाति वालों से (भी) रखवाली नहीं होती।

११७४. मरणं च्यवनं चुति कालक्रिया प्रियद्रव्यजनेन वियोगु सदा।
अपुनागमनं च असंगमनं द्रुमपत्रकला नदिस्त्रोत यथा॥

लवि, १३.४७३

मरना—गिरना, गिराव, काल करना (तथा) सदा के लिए प्यारे धन—धाम एवं साथियों से बिछुड़ना, पेड़ से गिरे फल—पत्तों जैसा, (तथा) नदी के प्रवाह जैसा है, जहाँ फिर लौटना तथा मिलना नहीं हो पाता।

११७५. मरणं वशितामवशीकुरुते मरणं हरते नदि दारु यथा।
असहायु नरो व्रजतेऽद्वितियो स्वकर्मफलानुगता विवशः॥

लवि, १३.४७४

मृत्यु जहाँ वश है वहाँ वश चलने नहीं देती, मृत्यु (प्राणि को) वैसे ले जाती है, जैसे नदी लकड़ी को बहा ले जाती है, बेबस, बेचारा आदमी अपने कर्म के फल के अनुसार अकेला जाता है।

११७६. हीनस्य मध्यस्य महात्मनो वा सर्वस्य लोके नियतो विनाशः।

बु, ३.५९

उत्तम, मध्यम और नीच कोई भी हो, सबका विनाश निश्चित है।

११७७. जगतश्च यदा ध्रुवो वियोगो ननु धर्माय वरं स्वयं वियोगः।

बु, ५.३८

जबकि विश्व से वियोग निश्चित है, तो धर्माचरण के लिए स्वयं पृथक् हो जाना यथार्थ में उत्तम है।

११७८. जीविते को हि विश्रम्भो मृत्यौ प्रत्यर्थिनि स्थिते।

बु, ६.२२

मृत्युरूप प्रतिपक्षी के रहते, जीवन का क्या भरोसा?

११७९. सत्यां प्रवृत्तौ नियतश्च मृत्युः॥

बु, ७.२३

जन्म होने पर मृत्यु निश्चित है।

११८०. विनाशकाले कथमव्यवस्थिते जरा प्रतीक्ष्या विदुषा शमेषुना॥

बु, ११.६१

विनाश (मृत्यु) का समय अनिश्चित होने पर कल्याण चाहने वाला विद्वान्, वृद्धावस्था की प्रतीक्षा क्यों करे।

११८१. पालयत्यनिशं देहं सावधानतया नरः।

लालयत्युपभोगैश्च न तथापि स जीवति॥

बु, २०.४१

मनुष्य बड़ी सावधानी से शरीर को निरन्तर पालता है और अनेक भोग्य वस्तुओं से लालन करता है, तो भी यह नहीं जीता है।

११८२. चलायां भवदोलायामारूढा मूढमानवाः।
विश्रब्धा न तु पश्यन्ति चासन्नं मरणं ध्रुवम्॥

बु, २०.४३

चंचल संसाररूपी झूठ पर चढ़े हुए मूढ मनुष्य संसार पर विश्वास कर रहे हैं। किन्तु निश्चित एवं समीप में आई हुई मृत्यु को नहीं देख पाते हैं।

११८३. नेह केऽपि तथा सन्ति नाशो येषां न विद्यते।

बु, २४.४०

यहाँ ऐसे (व्यक्ति व पदार्थ) कोई नहीं हैं जिनका नाश नहीं है।

११८४. निर्जिताशेषदोषोऽपि ज्ञानशस्त्रधृतोऽपि सन्।
लोकाचार्योऽपि सर्वज्ञो विनाशं प्रति गच्छति॥

बु, २५.१९

सभी दोषों को जीतने पर और ज्ञानरूपी शस्त्र धारण करने पर भी, लोक के सर्वज्ञ आचार्य भी विनाश को प्राप्त हो रहे हैं।

११८५. मृत्युर्नित्यः समश्चास्ति द्वैतभावं न गच्छति।

बु, २५.२७

मृत्यु नित्य है और समान है। वह भेद-बुद्धि नहीं रखती है।

११८६. जगद्धितावहे नष्टे कः कृतज्ञो न खिद्यते॥

बु, २५.७३

जगत् का हित करने वाले की मृत्यु पर कौन कृतज्ञ दुःखी नहीं होगा।

११८७. ध्रुवो मृत्युर्हि सर्वेषां युगान्तस्थायिनामपि।
संयोगश्च वियोगश्च न नित्यौ प्राणिनां क्वचित्॥

बु, २६.८६

सब प्राणियों की मृत्यु निश्चित है, चाहे युग पर्यन्त आयु वाले क्यों न हों। प्राणियों का संयोग एवं वियोग कभी नित्य नहीं है।

११८८. यन्न नश्यं न तत्किंचिद्वर्तते भुवनत्रये।

बु, २७.५

इन तीनों लोकों में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसका नाश नहीं होता।

११८९. सर्वास्ववस्थास्विह वर्तमानं सर्वाभिसारेण निहन्ति मृत्युः।

सौ., ५.२२

मृत्यु इस लोक में सभी अवस्थाओं में वर्तमान सभी तत्त्वों से मारती है।

११९०. मृत्योः समं नास्ति भयं पृथिव्याम्।

सौ., ५.२७

पृथ्वी पर मृत्यु के समान कोई भय नहीं है।

११९१. मृत्यौ तथा तिष्ठति पाशहस्ते शोच्यः प्रमाद्यन्विपरीतचेताः।

सौ., ५.४२

हाथ में पाश लेकर मृत्यु के रहते हुए, आलस्य करने वाला विपरीत-हृदय मनुष्य शोक के योग्य है।

११९२. तद्यावदेव क्षणसनिपातो न मृत्युरागच्छति यावदेव।

सौ., ५.४९

क्षणभर का जीवन जब तक रहता है मृत्यु तब तक नहीं आती है।

११९३. मुहूर्तमपि विश्रम्भः कार्यो न खलु जीविते।

निमीन इव हि व्याघ्रः कालो विश्वस्तघातकः॥

सौ., १५.५३

इस जीवन पर एक क्षण के लिए भी विश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा विश्वास करने वालों की, छिपे हुए बाघ के समान काल हत्या कर देता है।

११९४. मृत्युः सर्वास्ववस्थासु हन्ति नावेक्षेति वयः।

सौ., १५.५४

मृत्यु सभी अवस्थाओं में मारती है, वह आयु को नहीं देखती।

११९५. गर्भात्प्रभृति यो लोकं जिघांसुरनुगच्छति।

कस्तस्मिन्विश्वसेन्मृत्यावुधतासावराविव॥

सौ., १५.५९

जो मृत्यु गर्भ के समय से ही प्राणियों को मारने के लिए उनका पीछा करती है, कटार रखने वाले शत्रु के समान उस मृत्यु पर कौन विश्वास करेगा?

११९६. प्रसूतः पुरुषो लोके श्रुतवान्बलवानपि।

न जयत्यन्तकं कश्चिन्नाजयन्नापि जेष्यति॥

सौ., १५.६०

विद्वान् हो अथवा बलवान् संसार में कोई भी पुरुष मृत्यु को नहीं जीत सकता है, न जीत सका है और न जीत सकेगा।

११९७. साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन नियमेन वा।
प्राप्तो हि रभसो मृत्युः प्रतिहन्तुं न शक्यते॥

सौ., १५.६१

तेजी से आ रही मृत्यु को साम, दाम, दण्ड, भेद अथवा नियम के द्वारा नहीं रोका जा सकता।

११९८. नित्यं हरति कालो हि स्थाविर्यं न प्रतीक्षते।

सौ., १५.६२

काल वृद्धावस्था की प्रतीक्षा नहीं करता है क्योंकि वह सदैव प्राणियों का हरण करता है।

११९९. यमदूतैर्ग्रहीतस्य कुतो बन्धुः कुतः सुहृत्।

बोधिव, २.४२

जिसे यमदूतों ने पकड़ लिया हो उसके कहाँ बन्धु और कहाँ मित्र?

१२००. मनः संक्षोभ एवेष्टो मृत्युर्नायुः क्षयः सताम्।

जामा, १९.१०, पृ. २३५

सज्जन आयु के क्षय को नहीं, मानसिक क्षोभ को ही मृत्यु मानते हैं।

१२०१. मर्तव्यमिति भूतानामयं नैयमिको विधिः।

जामा, २८.५०, पृ. ३८४

सभी प्राणियों को (एक दिन) मरना पड़ेगा— यह अटल नियम है।

१२०२. ऋतेऽपि राज्ञो मरणादिदुःखं जातेन सर्वेण निषेवितव्यम्।

जामा, २८.६६, पृ. ३८८

राजा के बिना भी (अर्थात् राजा यदि न मारे तो भी) सभी जन्म लेने वालों को मृत्यु आदि का दुःख सहन करना ही पड़ेगा।

१२०३. को नाम मृत्योर्वदनाद्विमुक्तः स्वस्थः स्थितस्तत्पुनरभ्युपेयात्।

जामा, ३१.२०, पृ. ४३१

कौन ऐसा स्वस्थ मन वाला मनुष्य है जो (एक बार) मृत्यु के मुख से मुक्त होकर फिर उसी के पास जाएगा?

१२०४. महतापि प्रयत्नेन यच्छक्यं नातिवर्तितुम्।

प्रतीकारासमर्थेन भयक्लैब्येन तत्र किम्॥

जामा, ३१.६०, पृ. ४४२

बड़े प्रयत्न करने पर भी जिस (मृत्यु) का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता उसके बारे में भयजन्य अधीरता से क्या लाभ— जो (अधीरता) रक्षा करने में भी असमर्थ है?

१२०५. धर्मे स्थितः को मरणाद्विभीयात्।

जामा, ३१.६३

धर्म (सत्य) में स्थिर रहने वाला कोई भी मनुष्य मृत्यु से क्यों डरे?

१२०६. एवं विधायां च जगत्प्रवृत्तावहो यथा निर्भयता जनानाम्।
यन्मृत्युनाधिष्ठितसर्वमार्गा निःसंभ्रमा हर्षमनुभ्रमन्ति॥

जामा, ३२.८, पृ. ४५७

जगत् की प्रवृत्ति ऐसी (अस्थिर) होने पर भी लोग इतने निर्भय हैं कि प्रत्येक मार्ग पर मृत्यु के बैठे रहने पर भी वे घबड़ाहट छोड़कर आनन्द का अनुसरण करते हैं।

१२०७. यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति गर्भे निवासं नरवीर लोकः।

ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति॥

जामा, ३२.२१, पृ. ४६०

जिस प्रथम रात्रि को मनुष्य (माँ के) गर्भ में प्रवेश करता है उसी रात्रि से वह प्रतिदिन बिना रुके मृत्यु की ओर बढ़ता रहता है।

१२०८. संचूर्ण्य दन्तमुसलैः पुरगोपुराणि मत्ता द्विपा युधि रथांश्च नरान् द्विपांश्च।
नैवान्तकं प्रतिमुखाभिगतं नुदन्ति वप्रान्तलब्धविजयैरपि तैर्विषाणैः॥

जामा, ३२.२५, पृ. ४६१

मतवाले हाथी मूसल के समान (अपने विशाल) दाँतों से युद्ध में रथों, मनुष्यों, हाथियों और नगर के कपाटों को चूर-चूर कर देते हैं। किन्तु जब काल (यम या मृत्यु) सामने आता है तब वे दीवारों को भी तोड़ने में समर्थ उन दाँतों से उसे हटा नहीं पाते हैं (और यम का ग्रास बन जाते हैं)।

१२०९. दृढचित्रवर्मकवचावरणान् युधि दारयन्त्यपि विदूरचरान्।

इषुभिस्तदस्त्रकुशला द्विषतश्चिरवैरिणं न तु कृतान्तमरिम्॥

जामा, ३२.२६, पृ. ४६१

बाण चलाने में कुशल योद्धा अपने बाणों से सुदृढ़ और चित्र-विचित्र कवच धारण किये हुए दूरस्थ शत्रुओं (के शरीरों) को भी विदीर्ण कर देते हैं, किन्तु सनातन शत्रु काल (मृत्यु) पर उनका कुछ भी वश नहीं चलता।

१२१०. सिंहाविकर्तनकरैर्नखरैर्द्विपानां

कुम्भाग्रमग्नशिखरैः प्रशमय्य तेजः।

भित्तैव च श्रुतमनांसि रवैः परेषां

मृत्युं समेत्य हतदर्पबलाः स्वपन्ति॥

जामा, ३२.२७, पृ. ४६१

शेर अपने तीखे नाखूनों को हाथियों के कपोलों पर गड़ाकर उनके तेज (प्रभाव) को शान्त कर देते हैं। अपने गर्जनों से दूसरों के कानों और हृदयों को विदीर्ण कर देते हैं किन्तु मृत्यु से सामना होने पर वे अभिमान और सामर्थ्य खोकर समर्पण कर देते हैं।

१२११. दोषानुरूपं प्रणयन्ति दण्डं कृतापराधेषु नृपाः परेषु।
महापराधे यदि मृत्युशत्रौ न दण्डनीतिप्रवणा भवन्ति॥

जामा, ३२.२८, पृ. ४६१

राजा अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देते हैं, किन्तु महाअपराधी मृत्युरूप शत्रु के प्रति वे दण्डनीति का आश्रय नहीं लेते हैं।

१२१२. नृपाश्च सामादिभिरभ्युपायैः कृतापराधं वशमानयन्ति।
रौद्रश्चिराभ्यासदृढावलेपो मृत्युः पुनर्नानुनयादिसाध्यः॥

जामा, ३२.२९, पृ. ४६२

वे राजा साम आदि उपायों के द्वारा अपराधी (या शत्रु) को अपने वश में कर लेते हैं किन्तु (अपराध) के दीर्घ अभ्यास से महाभिमानी बने भयंकर मृत्यु को विनय आदि के द्वारा वश में नहीं ला सकते।

१२१३. क्रोधानलज्वलितघोरविषाग्निगर्भै-
र्दष्ट्राङ्कुरैरभिदशन्ति नरान् भुजंगाः।
दंष्ट्रव्ययलविधुरास्तु भवन्ति मृत्यौ
वध्येऽपि नित्यमपकारविधानदक्षे॥

जामा, ३२.३०, पृ. ४६२

साँप, क्रोध की आग में जलते हुए और भयंकर विष की अग्नि से भरे हुए अपने दाँतों से मनुष्य को डसते हैं किन्तु नित्य (सबका) अपकार करने वाले, वध के योग्य, मृत्यु के प्रति उनकी डसने की शक्ति कुण्ठित हो जाती है।

१२१४. दष्टस्य कोपरभसैरपि पन्नगैश्च
मन्त्रैर्विषं प्रशमयन्त्यगदैश्च वैद्याः।
आशीविषस्त्वतिविषोऽयमरिष्टदंष्ट्रो
मन्त्रागदादिभिरसाध्यबलः कृतान्तः॥

जामा, ३२.३१, पृ. ४६२

सर्प जब क्रोध में आकर किसी को डँसते हैं तो वैद्य, मन्त्रों और औषधियों के द्वारा उनके विष को शान्त कर देते हैं। किन्तु यह कालरूपी सर्प (मृत्यु) अतिविषधर और (साँपों से भी अधिक) सुदृढ़ दाँतों वाला है जिसे मन्त्रों, औषधियों आदि से शक्तिहीन नहीं किया जा सकता।

१२१५. पक्षानिलैल्लीलितमीनकुलं व्युदस्य मेघोषभीमरसितं जलमण्विभ्यः।
सर्पान् हरन्ति वितत प्रहणाः सुपर्णा मृत्युं पुनः प्रमथितुं न तथोत्सहन्ते॥

जामा, ३२.३२, पृ. ४६२

गरुड़ अपने पंखों की हवा से, समुद्र के जल को, जहाँ मछलियाँ खेलती हैं, हिलाते हुए, मेघों के समान भयंकर शब्द करते हुए, अपने फैले हुए मुखों से साँपों को भी पकड़कर ले जाते हैं किन्तु (ऐसे शक्तिशाली) वे गरुड़ भी मृत्यु का उस प्रकार से विनाश नहीं कर पाते।

१२१६. भीतद्रुतानपि जवातिशयेन जित्वा
संसाद्य चैकभुजवज्रविलासवृत्त्या।
व्याघ्राः पिबन्ति रूधिराणि वने मृगाणां
नैवं प्रवृत्तिपटवस्तु भवन्ति मृत्यौ॥

जामा, ३२.३३

भय से भागे हुए जंगली हरिणों को भी बाघ अतिशय वेग से पकड़कर वज्र के समान एक पंजे से, मानों खेल में ही मारकर उनके रूधिर को पी जाते हैं, किन्तु मृत्यु के प्रति वे ऐसा आचरण करने में कुशल नहीं होते।

१२१७. दंष्ट्राकरालमपि नाम मृगः समेत्य वैयाघ्रमाननमुपैति पुनर्विमोक्षम्।
मायोर्मुखं तु पृथुरोगजरार्तिदंष्ट्रं प्राप्तस्य कस्य च पुनः शिवतातिरस्ति॥

जामा, ३२.३४, पृ. ४६३

दाँतों से विकराल दिखाई देने वाले व्याघ्र के मुख में पहुँच कर संभव है कि हरिण वहाँ से छूट जाए (यद्यपि ऐसा भी असम्भव है) किन्तु रोग, बुढ़ापे जैसे दुःखरूपी बड़े दाँतों वाले मृत्यु के मुख में पहुँचकर भला किसकी कुशल है?

१२१८. पिबन्ति नृणां विकृतोग्रविग्रहा सहौजसायूषि दृढग्रहा ग्रहाः।
भवन्ति तु प्रस्तुतमृत्युविग्रहा विपन्नदर्पोत्कटतापरिग्रहाः॥

जामा, ३२.३५, पृ. ४६३

विकृत और विकल आकृति वाले राक्षस (अथवा यक्ष, प्रेत, पिशाच) मनुष्यों को दृढ़तापूर्वक पकड़कर उनकी शक्ति और आयु को पी जाते हैं। किन्तु जब अपने लिए मृत्यु से संघर्ष का समय आता है तब उनका अभिमान, भयंकरता और पकड़ सब समाप्त हो जाती है।

१२१९. पूजारतद्रोहकृतेऽभ्युपेतान् ग्रहानियच्छन्ति च सिद्धविद्याः।
तपोबलस्वस्त्ययनोषधैश्च मृत्युग्रहस्त्वप्रतिवार्य एव॥

जामा, ३२.३६, पृ. ४६३

(प्रेत) विद्या सिद्ध करने वाले पुरुष (तान्त्रिक, ओझा) पूजा-कर्म में निरत व्यक्ति से द्रोह करने के लिए आए हुए राक्षसों को तो निमन्त्रित कर लेते हैं किन्तु तपोबल, मांगलिक कर्म और औषधियों से भी मृत्युरूपी राक्षस का निवारण नहीं किया जा सकता।

१२२०. मायाविधिज्ञाश्च महासमाजे जनस्य चक्षूषि विमोहयन्ति।
कोऽपि प्रभावस्त्वयमन्तकस्य यद्भ्राम्यते तैरपि नास्य चक्षुः॥

जामा, ३२.३७, पृ. ४६३

जादूगर लोगों की भूढ़ में भी उनकी आँखों को मोह में डाल देते हैं। किन्तु यम इतना प्रभावशाली है कि वे (जादूगर) भी उसकी आँखों को मोहित नहीं कर सकते।

१२२१. हत्वा विषाणि च तपोबलसिद्धमन्त्रा व्याधीन् नृणामुपशमय्य च वैद्यवर्याः।
धन्वन्तरिप्रभृतयोऽपि गता विनाशं...॥

जामा, ३२.३८, पृ. ४६४

तपोबल से मन्त्र सिद्ध करने वाले पुरुष विष उतारते हैं, श्रेष्ठ वैद्य मनुष्यों के रोग को दूर करते हैं। किन्तु वे (मान्त्रिक और धन्वन्तरि आदि भी) काल के वशीभूत हुए हैं।

१२२२. आविर्भवन्ति च पुनश्च तिरोभवन्ति गच्छन्ति वानिलपथेन महीं विशन्ति।
विद्याधरा विविधमन्त्रबलप्रभावा मृत्युं समेत्य तु भवन्ति हतप्रभावाः॥

जामा, ३२.३९, पृ. ४६४

विद्याधर विविध मन्त्रों की शक्ति और प्रभाव से प्रकट होते हैं और पुनः अदृश्य हो जाते हैं; वायु-मार्ग से जाते हैं या पृथ्वी में प्रवेश कर जाते हैं। किन्तु मृत्यु से मुठभेड़ होने पर वे भी प्रभावहीन हो जाते हैं।

१२२३. दृप्तानपि प्रतिनुदन्त्यसुरान् सुरेन्द्रा दृप्तानपि प्रतिनुदन्त्यसुराः सुरांश्च।
मानाधिरूढमतिभिः समुदीर्णसैन्यैस्तैः संहतैरपि तु मृत्युरजय्य एव॥

जामा, ३२.४०, पृ. ४६४

देवता मद से उद्धृत राक्षसों को पीछे हटा देते हैं (कभी-कभी) राक्षस मद से उद्धृत देवताओं को पीछे हटा देते (पराजित कर देते) हैं। किन्तु दोनों शक्तिशाली मदोद्धत सेनाएँ (मिलकर) भी मृत्यु को नहीं जीत सकती हैं।

१२२४. कामं स्थितेषु भवने च वने च मृत्युर्धर्मात्मकेषु विगणेषु च तुल्यवृत्तिः।
धर्मात्मनां भवति न त्वनुतापहेतुधर्मश्च नाम वन एवं सुखं प्रपत्तुम्॥

जामा, ३२.४३, पृ. ४६५

अवश्य ही गृहस्थ हों या वनवासी, धर्मात्मा हों या धर्महीन, सबके प्रति मृत्यु का समान व्यवहार है। किन्तु धर्मात्माओं के लिए वह (मृत्यु) दुःखदायी नहीं है और धर्माचरण वन में आसानी से सम्भव है।

यौवन

१२२५. प्रथमे वयसे वररूपधरः प्रिय इष्टमतो इय बालचरी।
जरव्याधिदुःखै हततेजवपुं विजहन्ति मृगा इव शुष्कनदीम्॥

लवि, १३.४६३

प्रथम वयस में (अर्थात् नव यौवन में व्यक्ति) उत्तम रूपवान् होता है, (उसकी) यह प्यारी मनचाही और मनभाई बचपन की सखी होती है। उस (आदमी) को जब बुढ़ापा, रोग और दुःख शरीर (के रूप) एवं तेज को मार देते हैं, तब (यह सखी भी) उसे वैसे छोड़ देती है जैसे मृग सूखी नदी को छोड़ देते हैं।

१२२६. अतिपति (?त) न (?ति) यौवनमिदं गिरिनदि यथ चञ्चलप्रचलवेगा॥

लवि, १३.५३१

यह जवानी अत्यन्त चलते हुए वेग वाली पहाड़ी नदी जैसी बीती जा रही है।

१२२७. धिग् यौवनेन जरया समभिद्रुतेन।

लवि, १४.५५५

(उस) जवानी को धिक्कार है, (जिस पर) बुढ़ौती हमला कर देती है।

१२२८. धर्मस्य चार्थस्य च जीवलोके प्रत्यर्थिभूतानि हि यौवनानि।

बु., १०.३५

संसार में यौवन धर्म एवं अर्थ का शत्रु है।

१२२८. ...लोलं विषयप्रधानं प्रमत्तमक्षान्तमदीर्घदर्शी।

बहुच्छलं यौवनमभ्यतीत्य निस्तीर्य कान्तारमिवाश्वसन्ति॥

बु., १०.३७

घपल, विषय-प्रधान, मदान्ध, अधीर, अदूरदर्शी एवं बहुत कपटी यौवन (युवावस्था) को पार करके लोग आश्वासन (विश्राम) पाते हैं जैसे जंगल को पार करने पर विश्राम मिलता है।

१२३०. द्रुतं हि गच्छत्यनिवर्ति यौवनम्।

सौ., ९.२७

न लौटने वाला युवाकाल शीघ्र बीत जाता है।

राजधर्म

१२३१. माता पिता वा नृपतिः सुकृतौ कर्मकारिणाम्।

सुप्रसू., १३.१४

पुण्य कर्मों को करने वालों का राजा माता-पिता है।

१२३२. यदा ह्युपेक्षते राजा दुष्कृतं विषये स्थितम्।

नानारूपं न कुर्वीत दण्डं पापजनस्य च।

दुष्कृतानामुपेक्षायामधर्मो वर्धते भृशम्॥

शाठ्यानि कलहाश्चैव भूयो राष्ट्रे भवन्ति च।

प्रकुप्यन्ति च देवेन्द्रास्त्रायत्रिंशद्भवनेषु च॥

सुप्रसू., १३.१४-१७.

जब राजा अपने प्रदेश में व्याप्त दुष्कृत्य की उपेक्षा करता है तथा दुष्ट जन को उचित दण्ड नहीं देता है, तो दुष्कृत्यों की उपेक्षा से अधर्म अत्यधिक बढ़ता है तथा राज्य में दुष्कर्म एवं झगड़े ही बहुलता से होते हैं और तैंतीस लोकों के देवता क्रुद्ध हो जाते हैं।

१२३३. यदा ह्युपेक्षते राजा दुष्कृतं विषये स्थितम्।
हन्यते विषयो घोरैः शाठ्यैरपि सुदारुणैः॥
विनश्यति च तद्राष्ट्रं परचक्रस्य चाक्रमे।
भोगानि च बलान्येव धनं यस्यास्ति सञ्चितम्॥
विविधानि च शाठ्यानि हरन्ति च परस्परम्।
येन कार्येण राजत्वं नैतत्कार्यं करिष्यति।
विलोपयति स्वराष्ट्रं गजेन्द्र इव पद्मिनीम्॥

सुप्रसू., १३.१८-२०.

जब राजा अपने प्रदेश में व्याप्त दुष्कृत्य की उपेक्षा करता है, तब उसका प्रदेश कठोर एवं भयानक दुष्कर्मों से नष्ट हो जाता है तथा बाह्य आक्रमण के होने पर सुख-सुविधाएँ, सेना एवं राष्ट्र नष्ट हो जाते हैं, जिन्होंने विविध दुष्कृत्यों से धन एकत्रित किया है। वे परस्पर उस सम्पत्ति से वञ्चित हो जाते हैं, जिस कार्य से वह राजा बना है, यदि वह उस कार्य को नहीं करता है, तो वह अपने राष्ट्र को ही नष्ट करता है, जैसे गजराज कमलों वाले सरोवर को नष्ट करता है।

१२३४. दुष्कृतानां शमनार्थाय सुकृतानां प्रवर्तकः।
दृष्टधार्मिकः सत्त्वानां विपाकजनको नृपः॥

सुप्रसू., १३.४८

दुष्कृत्यों की शान्ति के लिए, सत्कर्मों की वृद्धि के लिए राजा इसी जन्म में प्राणियों को अपने कर्मों का फल देता है।

१२३५. सुकृतदुष्कृतानां च कर्मणा यः पृथग्विधः।
विपाकफलदर्शार्थं कर्ता राजा हि प्रोच्यते॥

सुप्रसू., १३.४९

जो विविध मार्गों से सत्कर्मों एवं दुष्कर्मों का फल दिखाने वाला है, इसलिए वह राजा कहा जाता है।

१२३६. एकापेक्षो भवेद् राजा मा पक्षे पतितो भवेत्।

सुप्रसू., १३.५६

राजा को पक्षपाती नहीं होना चाहिये, उसको पक्षपात करना ही नहीं चाहिये।

१२३७. राज्यं हि रम्यं व्यसनाश्रयं च॥

बु, ९.४१

राज्य रमणीय किन्तु दुःखों का घर है।

१२३८. शमे रतिश्चेच्छित्थिलं च राज्यं राज्ये मतिश्चेच्छमविप्लवश्च।
शमश्च तैक्षण्यं च हि नोपपन्नं शीतोष्णयोरैक्यमिवोदकाग्न्योः॥

बु, ९.४९

जिसकी शान्ति में रुचि होगी, उसका राज्य—शासन शिथिल हो जायेगा। यदि राज्य में मति होगी तो शान्ति भंग हो जाएगी। जिस प्रकार शीतल जल एवं उष्ण वायु का योग नहीं है उसी प्रकार शम एवं तीक्ष्णता का भी योग नहीं है।

१२३९. आसङ्काष्ठप्रतिमो हि राजा लोकस्य हेतोः परिखेदमेति॥

बु, ११.४५

प्रवाह में निराधार बहने वाले, काष्ठ के समान राजा लोक (प्रजा) के लिए परिखिन्न रहता है।

१२४०. श्रमः परार्थे ननु राजभावः॥

बु, ११.४७

राजत्व तो दूसरों के लिए श्रम (मात्र) है।

१२४१. सिंहासनं तेजसि लब्धशब्दास्त्रिवर्गसेवानिपुणा भजन्ते।

जामा, ९.१८, पृ. १२९

जो प्रसिद्ध तेजस्वी हैं तथा (अर्थ, धर्म व काम के) त्रिवर्ग के सेवन में प्रवीण हैं, वे ही सिंहासन ग्रहण करते हैं।

१२४२. फलन्ति कामं वसुधाधिपानां दुर्नीतिदोषास्तदुपाश्रितेषु।

सह्यास्त एषां तु तथापि दृष्टा मूलोपरोधान् तु पार्थिवानाम्॥

जामा, ९.१९, पृ. १२९

राजाओं की दुर्नीति के दोष उनके आश्रितों (प्रजाओं) में अवश्य फलते हैं। अतः प्रजाजन में दुर्नीति के ये दोष क्षम्य हो सकते हैं किन्तु राजाओं में नहीं, क्योंकि इससे मूल का विनाश होगा।

१२४३. शीतामलस्वादुजलं निपानं बिभित्सतामस्ति न चेन्निषेद्धा।

व्यर्थाभिधाना बत लोकपाला विप्रोषिता वा श्रुतिमात्रकं वा॥

जामा, ९.४१, पृ. १२७

शीतल, निर्मल और मीठे जल के कुँए को जो नष्ट करना चाहते हैं उन्हें रोकने वाला यदि कोई नहीं है तो लोकपालों का नाम व्यर्थ है अथवा वे कहीं चले गए हैं या नाम मात्र के लिए रह गए हैं।

१२४४. उत्तमाधममध्यानां कार्याणां नित्यदर्शनात्।
उपर्युपरिबुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्ध्यः॥

जामा, १०.३१, पृ. १५६

(मनुष्यों के) उत्तम, मध्यम और निकृष्ट कार्यों को नित्य परखने के कारण राजा की बुद्धि (अन्य लोगों की साधारण) बुद्धियों से ऊपर ही—ऊपर (अर्थात् सर्वोपरि) रहती है।

१२४५. नराधिपानां चरितेष्वधीनं लोकस्य...अहितं हितं च।

जामा, १३.३८, पृ. १८६

प्रजाओं का हित और अहित राजाओं के चरित के अधीन है।

१२४६. नृपस्य वृत्तं हि जनोऽनुवर्तते।

जामा, २२.९८

प्रजा राजा के आचरण का अनुसरण करती है।

१२४७. कृषिप्रधानान् पशुपालनोद्यतान् महीरूहान् पुष्पफलान्वितानिव।
अपालयन्जानपदान् बलिप्रदान् नृपो हि सर्वौषधिभिर्विरुध्यते॥

जामा, २३.६६, पृ. ३१५

जो राजा फूलों और फलों से भरे हुए वृक्षों के समान किसानों, पशुपालकों तथा कर देने वाली प्रजा का पालन (देखभाल) नहीं करता है वह सभी औषधियों (पृथ्वी की सम्पदा, धन) से वञ्चित होता है।

१२४८. विचित्रपण्यक्रयविक्रयाश्रयं वणिग्जनं पौरजनं तथा नृपः।
न पाति यः शुल्कपथोपकारिणं विरोधमायाति स कोशसम्पदा॥

जामा, २३.६७, पृ. ३१५

जो राजा विभिन्न वस्तुओं की खरीद-बिक्री करने वाले व्यापारियों, नागरिकों तथा शुल्क (इकट्ठा करने वालों के माध्यम से) उपकार करनेवालों का पालन नहीं करता है वह कोश-सम्पत्ति से वञ्चित हो जाता है।

१२४९. अदृष्टदोषं युधि दृष्टविक्रमं तथा बलं यः प्रथितास्त्रकौशलम्।
विमानयेद् भूपतिरध्युपेक्षया ध्रुवं विरुद्धः स रणे जयश्रिया॥

जामा, २३.६८, पृ. ३१५

जिसमें कभी दोष या बुराई नहीं देखी गई, जिसने युद्ध में पराक्रम का परिचय दिया है और जो अस्त्र-कौशल के लिए प्रसिद्ध है उस वीर का अपमान या उपेक्षा करने वाला राजा निश्चय ही युद्ध में विजयश्री से वञ्चित होता है।

१२५०. तथैव शीलश्रुतयोगसाधुषु प्रकाशमाहात्म्यगुणेषु साधुषु।
चरन्वज्रामलिनेन वर्त्मना नराधिपः स्वर्गसुखैर्विरुध्यते॥

जामा, २३.६९, पृ. ३१६

इसी प्रकार जो राजा शील, शास्त्र और योग में कुशल उन सज्जनों की अवज्ञा के मलिन मार्ग पर चलता है जिनकी महत्ता सर्वत्र प्रकाशित है, तो वह स्वर्ग के सुखों से वञ्चित होता है।

१२५१. द्रुमाद्यथामं प्रचिनोति यः फलं स हन्ति बीजं न रसं च विन्दति।
अधर्म्यमेवं बलिमुद्धरन् नृपः क्षिणोति देशं न च तेन नन्दति।

जामा, २३.७०, पृ. ३१६

जैसे यदि कोई (अज्ञानी) व्यक्ति पेड़ से कच्चा फल तोड़ता है तो वह फल को नष्ट करता है और रस को भी नहीं पाता है वैसे ही अधर्म (अन्याय) पूर्वक कर वसूलने वाला राजा देश को नष्ट करता है और उससे सुख भी नहीं पाता है।

१२५२. यथा तु सम्पूर्णगुणो महीरुहः फलोदयं पाकवशात्प्रयच्छति।
तथैव देशः क्षितिपाभिरक्षितो युनक्ति धर्मार्थसुखैर्नराधिपम्॥

जामा, २३.७१, पृ. ३१६

जैसे गुणों से परिपूर्ण वृक्ष (समय आने पर) पका हुआ फल प्रदान करता है वैसे ही राजा से (न्यायपूर्वक) रक्षित देश उसे धर्म, अर्थ और सुख से सम्पन्न करता है।

१२५३. अधिपार्थममात्यादि न तदर्थं महीपतिः।

जामा, २७.१७

राजा के लिए मन्त्री आदि (कर्मचारी) हैं न कि उनके लिए राजा है।

१२५४. युग्यं बलं जानपदानमात्यान् पौराननाथाञ्छ्रमणान् द्विजातीन्।
सर्वान् सुखेन प्रयतेत योक्तुं हितानुकूलेन पितेव राजा॥

जामा, २७.३३

राजा को चाहिए कि वह घोड़ों, सैनिकों, देशवासियों, नगरवासियों, अनाथों, श्रमणों, ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों को (अपनी सन्तान मानते हुए उन्हें) पिता के समान कल्याणकारी सुख प्रदान करने का प्रयास करे।

१२५५. विमृश्य कार्यं त्ववगम्य तत्त्वतः प्रपद्य धर्मेण न नीतिवर्त्मना।
महान्ति धर्मार्थसुखानि साधयञ्जनस्य तैरेव न हीयते नृपः॥

जामा, २८.४१

विचारपूर्वक तत्त्व (कर्तव्य, प्रसंग की यथार्थता) को ठीक-ठीक जानकर धर्म और नीतिपूर्वक उसका आचरण करने वाला राजा अपनी प्रजा के लिए धर्म, अर्थ और काम की साधना करता है और स्वयं भी उन (धर्मादि) से वञ्चित नहीं होता है।

१२५६. तपोधनेष्वभ्युदिता हि वृत्तयः क्षितीश्वराणां बहुमानपेशलाः॥

जामा, २८.४७

तपस्वियों के प्रति राजाओं के सम्मान-पूर्ण आचरण स्वयं उन्हीं (राजाओं) के लिए कल्याणकारी होते हैं।

१२५७. क्षत्रविद्यापरिदृष्टेषु नीतिकौटिल्यप्रसङ्गेषु नैर्घृण्यमलिनेषु
धर्मविरोधिष्वपि राजधर्मोज्ज्वलम्।

जामा, पृ. ३०२

कुटिल नीतियों तथा कठोरता से मलिन बनी और धर्म-विरोधी राजनीति
के अनुसार चलना ही राजधर्म है।

लज्जा

१२५८. कामस्यावरणं लज्जा तथा शीलस्य भूषणम्।
अङ्कुशो दोषनागानां लज्जावांस्तु भवेदतः॥

बु, २६.४८

लज्जा काम का आवरण, शील का भूषण एवं दोष का अङ्कुश है, अतः
लज्जावान् होना चाहिये।

१२५९. लज्जावान् पूज्यते लोकैर्बुधैराद्रियते सदा।
हिताहितानभिज्ञस्तु निर्लज्जः पशुभिः समः।

बु, २६.४९

लज्जावान् मनुष्य संसार में पूजा जाता है एवं विद्वानों से आदर पाता है;
किन्तु हित तथा अहित को नहीं जानने वाला (अनभिज्ञ) निर्लज्ज प्राणी पशु के समान
है।

१२६०. व्यपत्रपन्ते हि कुलप्रसूता मनः प्रचारैरशुभैः प्रवृत्तैः।

सौ., १६.७६

श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न मनुष्य, मन की व्यावहारिक और अशुभ प्रवृत्तियों से
अत्यधिक लज्जित होते हैं।

लोक

१२६१. सब्बं वितथमिदं।

सुनि, १.१.९

यह सब (जगत) व्यर्थ है।

१२६२. अविज्जाय निवृत्तो लोको।

सुनि, ५.२.२

संसार अविद्या से ढका हुआ है।

१२६३. अनिमित्तमनज्जातं, मच्चानं इध जीवितं।
कसिरं च परितं च, तं च दुक्खेन सञ्जुतं।

सुनि, ३.८.१

यहाँ मनुष्यों का जीवन अनिमित्त और अज्ञात है, कठिन और अल्प है और
वह भी दुःख से युक्त है।

१२६४. समन्तमसरो लोको, दिसा सब्बा समेरिता।

सुनि, ४.१५.३

सारा संसार असार है, सभी दिशाएँ विचलित हैं।

१२६५. सब्बेसं जीवितं पियं। (पा.)

सर्वेषां जीवितं प्रियम्। (सं.)

धप, १३०

जीवन सभी को प्रिय होता है।

१२६६. अन्धभूतो अयं लोको। (पा.)

अन्धीभूतोऽयं लोकः। (सं.)

धप, १७४

यह संसार अन्धा है।

१२६७. निन्दन्ति तुण्हमासीनं, निन्दन्ति बहुभाणिनं।

मितभाणिं, पि निन्दन्ति, नत्थि लोके अनिन्दितो॥ (पा.)

निन्दन्ति तूष्णीमासीनं निन्दन्ति बहुभाषिणम्।

मितभाषिणमपि निन्दन्ति नास्ति लोके अनिन्दितः। (सं.)

धप, २२७

(लोग) चुप बैठने वालों की निन्दा करते हैं, बहुत बोलने वाले की निन्दा करते हैं (और) मितभाषी की भी निन्दा करते हैं। संसार में अनिन्दित कोई नहीं है।

१२६८. अत्राणः खलु लोकोऽयं परिभ्रमति चक्रवत्॥

बु, १४.५

निश्चय ही यह संसार अरक्षित है (जो कि) चक्र की भाँति घूम रहा है।

१२६९. कदली गर्भनिःसारः संसारः।

बु, १४.६

संसार केले के गर्भ (भीतरी भाग) की तरह निःसार है।

१२७०. निराधारं जगच्चक्रं तीव्रगत्या भ्रमत्यलम्।

तदायत्तस्तु जीवोऽयं श्रान्तिभूमिं न गच्छति॥

बु, १४.४७

यह संसार आधार-रहित हो तीव्र गति से निरन्तर घूम रहा है, (उसमें) जीव चारों ओर से घिरा है तथा कभी शान्ति का स्थान नहीं पाता है।

१२७१. वितर्केन्धनजातेन मोहधूमावृतेन च।
दोषाग्निना त्विदं विश्वं विवशं परिदहयते॥

बु, १६.३९

वितर्करूपी ईधन से उत्पन्न, मोहरूपी धूँ से ढके हुये और द्वेषरूपी अग्नि से विवश होकर यह सारा विश्व जला जा रहा है।

१२७२. शान्तिं ज्ञानञ्च नेतारं विना लोको मुहुर्मुहुः।
जरामरणरोगेण दूयमानो विनश्यति॥

बु, १६.४०

शान्ति, ज्ञान और नेता के बिना बुढ़ापे, मृत्यु और रोग से पीड़ित यह संसार बार-बार नष्ट होता है।

१२७३. अस्तित्वञ्च विनाशश्च समौ जानीह्युभावपि।
तथाऽहन्त्वममत्वाभ्यां रिक्तं शून्यं च मायिकम्॥

बु, १८.१२

अस्तित्व (जीवन) और विनाश (मृत्यु) दोनों को समान जानो तथा अहन्ता और ममत्व से रहित शून्य तथा मायिक जानो।

१२७४. इमं लोकं शरीरञ्च विद्धि धातुविकारजम्।
अनित्याज्जीवनाच्चित्तं मुक्तमाशु विधीयताम्॥

बु, १८.१३

इस संसार को तथा शरीर को धातु का विकार जानो। अनित्य जीवन से चित्त को शीघ्र मुक्त करो।

१२७५. तृष्णाप्रभृतिदोषाणां परिणाममिदं जगत्॥

बु, १८.१९

यह जगत् तृष्णा आदि दोषों का ही परिणाम है।

१२७६. इमं लोकं विपद्ग्रस्तं ज्वलदग्नि गृहोपमम्।

बु, १९.२८

यह संसार अग्नि से जल रहे घर की भाँति, विपत्ति से ग्रस्त है।

१२७७. लोके कामाय वाऽर्थाय युद्ध्यन्ते भुवि मानवाः।
ये तु धर्माश्रिताचार्या द्वौ विरुद्धौ तु तन्मते॥

बु, २८.४६

संसार में मनुष्य प्रायः काम के लिए अथवा अर्थ के लिए युद्ध करते हैं। जिन आर्यों ने धर्म का आश्रय लिया है उनके मत से ये दोनों विपरीत हैं।

१२७८. लोकगतिर्नियता।

सौ., ३.३६

संसार की गति निश्चित होती है।

१२७९. सदा च सर्वं च तुदन्ति धातवः।

सौ., ९.१३

धातुएँ, सांसारिक वस्तुएँ सदा सबको पीड़ित करती हैं।

१२८०. असारमस्वन्तमनिश्चितं जगत्।

सौ., ९.१६

यह संसार निस्सार, अनिश्चित और बुरे अन्त वाला है।

१२८१. अनर्थमूला विषयाश्च केवला।

सौ., ९.४६

सांसारिक पदार्थ केवल अनर्थ के मूल हैं।

१२८२. जरा व्याधिश्च मृत्युश्च लोकस्यास्य महद्भयं।

नास्ति देशः यत्रास्य तद्भयं नोपपद्यते॥

सौ., १५.४६

जरा, व्याधि और मृत्यु इस संसार के सबसे बड़े भय हैं। यहाँ ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ यह भय उत्पन्न न होता हो।

१२८३. निःसारं पश्यतो लोकं तोयबुद्बुददुर्बलं
कस्यामरवितर्को हि स्यादनुमत्तचेतसः॥

सौ., १५.६३

यह संसार पानी के बुद्बुद के समान दुर्बल और निस्सार है, ऐसा समझकर कौन उन्मुक्त चित्त वाला व्यक्ति होगा जो सोचेगा कि वह अमर है।

१२८४. दुःखं न मे स्यात्पुखमेव मे स्यादिति प्रवृत्तः सततं हि लोकः।

सौ., १८.३८

मुझे दुःख न हो सदा सुख ही मिले ऐसी ही संसार की सदा प्रवृत्ति रहती है।

१२८५. सभाग्यः खलु मनुष्यलोकः।

जामा, पृ. १०९

यह मनुष्य-लोक अवश्य ही सौभाग्यशाली है।

लोभ

१२८६. भवन्ति लोकस्य हि भूयसार्था लोभाश्रयाद् दुर्गतिमार्गसार्थाः।

जामा, ५.४, पृ. ४९

प्रभूत धन को यदि लोभ का सहारा मिल जाये तो वह मनुष्य को (शीघ्र ही तेज गति से) दुर्दशा के रास्ते पर ले चलता है।

१२८७. तनुघृणानि बहुलौल्यादनिभृतानि च प्रायेण मानुषहृदयानि।

जामा, पृ. ३४५

लोभ के कारण मनुष्यों के हृदय प्रायः चञ्चल और कठोर हो जाते हैं।

१२८८. दारान्मनोऽभिलषितास्तनयान्प्रभुत्व—
मर्थान्भीप्सितविशालतरांश्च लब्ध्वा।
येनाभितप्तमतिरेति न जातु तृप्तिं
लोभानलः सः...॥

जामा, ७.१५, पृ. ८४

मन चाहे पुत्र, पत्नी, प्रभुत्व तथा अभीष्ट प्रभूत धनराशि को प्राप्त करके भी जिस (लोभ) के कारण चित्त सन्तोष का अनुभव नहीं करता, वह लोभ की अग्नि है।

विडम्बना

१२८९. येन येन हि मञ्जन्ति ततो तं होति अञ्जथा।

सुनि, ३.८.१५

मनुष्य जिस-जिस से मोहित होता है, वह उससे छूट जाती है।

१२९०. ...जरां रूपविनाशयित्रीं जानाति चैवेच्छति चैव लोकः।

बु, ३.३३

रूपविनाशिनी जरा-अवस्था को लोग जानते भी हैं और चाहते भी हैं।

१२९१. शुभं प्रयतते कर्तुमशुभात्तु बिभेत्यलम्।

तथाप्यशुभमाप्नोति न शुभं चाधिगच्छति॥

बु, १८.४७

(पुरुष) शुभ कार्य करने का प्रयास करता है, अशुभ कार्य से डरता है। किंतु अशुभ पा जाता है और शुभ नहीं पाता है।

१२९२. इदमाश्चर्यमपरं यत्सुप्तः प्रतिबुध्यते।

स्वपित्युत्थाय वा भूयो बह्वमित्रा हि देहिनः॥

सौ., १५.५८

यह एक अन्य आश्चर्य का विषय है कि सोया हुआ व्यक्ति जाग जाता है और जागे हुए व्यक्ति को फिर सोने का अवसर मिल जाता है क्योंकि यहाँ प्राणियों के अनेक शत्रु हैं।

१२९३. अहो प्रगल्भैः परिभूय लोकमुन्नीयते शास्त्रपथैरधर्मः।

जामा, २३.५४

आश्चर्य है कि प्रगल्भ पुरुष, लोकशास्त्र का तिरस्कार करके शास्त्रों के माध्यम से अधर्म का प्रचार करते हैं।

१२९४. कृतज्ञताप्यद्य गुणेषु गण्यते॥

जामा, २६.११

आज कृतज्ञता भी गुणों में ही गिनी जाती है।

१२९५. अहो तडिच्चञ्चलया नृपश्रिया हतेन्द्रियाणां स्वहितानवेक्षिता।

जामा, ३०.११, पृ. ४११

आश्चर्य है कि बिजली के समान चञ्चल (क्षणिक) राजलक्ष्मी के द्वारा मोहित इन्द्रियों वाले (मनुष्य) अपने ही कल्याण को नहीं देखते हैं।

वृषल

१२९६. कोधनो उपनाही च, पापमक्खी च यो नरो।

विपन्नदिट्ठि मायावी, तं जज्जा वसलो इति।

सुनि, १.७.१

जो नर क्रोधी, बँधे वैर वाला, बहुत ईर्ष्यालु, मिथ्यादृष्टि वाला और मायावी है, उसे वृषल (= नीच) जानें।

१२९७. एकजं वा द्विजं वा' पि, यो' ध पाणं विहिंसति।

यस्स पाणे दया नत्थि, तं जज्जा वसलो इति।

सुनि, १.७.२

जो योनिज या अण्डज किसी भी प्राणी की हिंसा करता है, जिसे प्राणियों के प्रति दया नहीं है, उसे वृषल जानें।

१२९८. यो हन्ति परिरुन्धति, गामानि निगमानि च।

निग्गाहको समज्जातो, तं जज्जा वसलो इति॥

सुनि, १.७.३

जो ग्रामों और कस्बों को नष्ट करता और घेरता है, जो अत्याचारी के रूप में प्रसिद्ध है, उसे वृषल जानें।

१२९९. गामे वा यदि वा' रज्जे, य परेसं ममायितं।

थेय्या अदिन्नं आदियति, तं जज्जा वसलो इति॥

सुनि, १.७.४

ग्राम या अरण्य में जों दूसरों की अपनी सम्पत्ति है, उसे चोरी से ले लेता है, उसे वृषल जानें।

१३००. यो हवे इणमादाय, चुञ्जमानो पलायति।
न हि ते इणमत्थीति, तं जञ्जा वसलो इति॥

सुनि, १.७.५

जो ऋण लेकर माँगने पर "तेरा ऋण नहीं है" कहकर भागता है, उसे वृषल जानें।

१३०१. यो वे किञ्चिक्खकम्यता, पंथस्मि वजतं जनं।
हन्त्वा किञ्चिक्खमादेति, तं जञ्जा वसलो इति॥

सुनि, १.७.६

जो किसी चीज की इच्छा से मार्ग में चलते हुए व्यक्ति को मारकर कुछ ले लेता है, उसे वृषल जानें।

१३०२. यो अत्तहेतु परहेतु, धनहेतु च यो नरो।
सक्खिपुट्ठो मुसा बुद्धि, तं जञ्जा वसलो इति॥

सुनि, १.७.७

जो नर अपने या दूसरे के धन के लिए झूठी गवाही देता है, उसे वृषल जानें।

१३०३. यो जातीनं सखानं वा, दारेसु पटिदिस्सति।
सहसा सम्पियेन वा तं जञ्जा वसलो इति॥

सुनि, १.७.८

जो जबरदस्ती या प्रेम से भाई-बन्धुओं या मित्रों की स्त्रियों के साथ दिखाई देता है, उसे वृषल जानें।

१३०४. यो मातरं वा पितरं वा जिण्णकं गतयोब्बनं।
पहु सन्तो न भरति, तं जञ्जा वसलो इति॥

सुनि, १.७.९

जो समर्थ होते हुए भी अपने बूढ़े माता या पिता का भरण-पोषण नहीं करता है, उसे वृषल जानें।

१३०५. यो मातरं वा पितरं वा भातरं भगिनि ससुं।
हन्ति रोसेति वाचाय तं जञ्जा वसेलो इति॥

सुनि, १.७.१०

जो माता-पिता, भाई, बहिन या सास को मारता या कड़े वचन से क्रोध करता है, उसे वृषल जानें।

१३०६. यो अत्थं पुच्छितो सन्तो, अनत्थमनुसासति।

पटिच्छन्नेन मन्तेति तं जज्जा वसलो इति॥

सुनि, १.७.११

जो भलाई की बात पूछने पर बुराई का रास्ता दिखलाता है, और बात को घुमा-फिरा कर बोलता है, वह वृषल है।

१३०७. यो कत्वा पापकं कम्मं, मा मं जज्जा जज्जा' ति इच्छति।

यो पटिच्छन्नकम्मन्तो, तं जज्जा वसलो इति॥

सुनि, १.७.१२

जो पाप-कर्म करके 'लोग मुझे न जानें'— ऐसा चाहता है, जो छिपे कर्म करने वाला है, वह वृषल है।

१३०८. यो वे परकुलं गत्वा, भुत्वा न सुविभोजनं।

आगतं न पटिपूजति, तं जज्जा वसलो इति।

सुनि, १.७.१३

जो दूसरे के घर जाकर स्वादिष्ट भोजन करता है और उसके आने पर आदर सत्कार नहीं करता, वह वृषल है।

१३०९. यो ब्राह्मणं वा समणं वा, अज्जं वा' पि बनिब्बकं।

रोसेति वाचा न च देति, तं जज्जा वसलो इति।

सुनि, १.७.१४

जो ब्राह्मण, श्रमण अथवा अन्य किसी भी भिखारी को झूठ बोलकर धोखा देता है, वह वृषल है।

१३१०. यो ब्राह्मणं वा समणं वा, भक्तकाले उपट्ठिते।

रोसेति वाचा न च देति, तं जज्जा वसलो इति॥

सुनि, १.७.१५

जो भोजन के समय आए हुए ब्राह्मण या श्रमण से क्रोध से बोलता है और उसे कुछ नहीं देता, वह वृषल है।

१३११. असतं यो' ञ्च पबूति, मोहेन पल्लिगुण्ठितो।

किञ्चिक्खं निजिगिंसानो, तं जज्जा वसलो इति।

सुनि, १.७.१६

जो मोह से मोहित/हो किसी चीज को चाहता हुआ यहाँ झूठ बोलता है, वह वृषल है।

१३१२. यो चत्तानं समुक्कंसे, परं चमवजानति।
निहीनो सेन मानेन, तं जज्जा वसलो इति।

सुनि, १.७.१७

जो अपनी बड़ाई करता है, दूसरे की निन्दा करता है और अपने अभिमान से गिर गया है, वह वृषल है।

१३१३. रोसको कदरियो च पापिच्छो मच्छरी सठो।
अहिरिको अनोत्तप्पी, तं जज्जा वसलो इति॥

सुनि, १.७.१८

जो क्रोधी, कंजूस, बुरी इच्छा वाला, कृपण, शठ, निर्लज्ज और असंकोची है वह वृषल है।

१३१४. यो बुद्धं परिभासति, अथवा तस्स सावकं।
परिब्बाजं गहदूठं वा, तं जज्जा वसलो इति॥

सुनि, १.७.१९

जो बुद्ध और उनके प्रव्रजित अथवा गृहस्थ शिष्यों को गाली देता है, वह वृषल है।

१३१५. यो वे अनरहा सन्तो, अरहं पटिजानति।
चोरो सब्बहके लोके, एस खो वसलाधमो॥

सुनि, १.७.२०

जो अर्हत् न होते हुए भी अपने को अर्हत् बतलाता है, वह ब्रह्म सहित सारे लोक में चोर है और वह अधम वृषल है।

शान्ति

१३१६. सब्बत्थ उपेक्खको सतीमा, न सो हिंसति किञ्चि सब्बलोके।
तिण्णो समणो अनाविलो, उस्सदा यस्स न सन्ति सोरतो सो॥

सुनि, ३.६.६

जो सब प्रकार से उपेक्षा करने वाला है, स्मृतिमान् है, सारे लोक में जो किसी की हिंसा नहीं करता, जो (संसार-सागर) पार कर गया है, जो श्रमण और निर्मल है तथा जिसमें आसक्तियाँ नहीं हैं, वह शान्त है।

१३१७. अनिच्छो होति निब्बुतो।

सुनि, ३.११.२९

इच्छारहित व्यक्ति शान्त होता है।

१३१८. यस्स लोके सकं नत्थि, असता च न सोचति।

धम्मेषु च न गच्छति, स वे सन्तो' ति वुच्चती' ति॥

सुनि, ४.१०.१४

जिसका संसार में अपना कुछ नहीं है, जो अभाव के लिए पश्चाताप नहीं करता और जो सब धर्मों में रागादि के वश में नहीं पड़ता है, वही शान्त कहा जाता है।

१३१९. नत्थि सन्तिपरं सुखं। (पा.)

नास्ति शान्तिपरं सुखं। (सं.)

धप, २०२

शान्ति से बढ़कर सुख नहीं है।

१३२०. नित्यं शिवं शान्तिसुखं वृणीष्व।

सौ., ५.२६

निश्चित, नित्य और मंगलकारी शान्ति—सुख का वरण करो।

१३२१. न हि वाष्पश्च शमश्च शोभते।

सौ., ८.२

आँसू और शान्ति एक साथ शोभा नहीं देते।

१३२२. प्रश्रब्धिः कायमनसः सुखस्योपनिषत्परा।

प्रश्रब्धेरप्युत्पनिषत्प्रीतिरप्यवगम्यताम्॥

सौ., १३.२४

शारीरिक और मानसिक सुख का उपनिषद् परम शान्ति और शान्ति का उपनिषद् प्रीति है।

शुद्धि

१३२३. न मच्छमंसानमनासकत्तं, न नगियं (मुण्डियजटा) जल्लं खराजिनानि वा।

नागिहुत्तस्सुपसेवना वा, ये वापि लोके अमरा बहू तपा।

मन्ताहुती यज्जमुत्तुपसेवना, सोधेन्ति, मच्चं अविदिण्णकङ्कं॥

सुनि, २.२.११

न तो मछली मांस खाना, न नंगा रहना, न उपवास करना, न सिर मुड़ाना, न जटा धारण करना, न राख पोतना, न कड़े भृगचर्म को पहिनना, न अग्नि—हवन करना, न अमरत्व की आकाँक्षा से अनेक प्रकार के तपों को करना, न मंत्रपाठ करना, न हवन करना, न यज्ञ करना और न ऋतुओं का उपसेवन करना ही संशययुक्त मनुष्य को शुद्ध कर सकते हैं।

१३२४. पुञ्जे च पापे न अनूपलितो, अतज्जहो नयिष पकुब्बमानो।

सुनि, ४.४.३

जो पुण्य और पाप में लिप्त नहीं है, जो आत्म-त्यागी है और पुण्य-पाप नहीं करने वाला है, वही शुद्ध है।

१३२५. शुद्धि असुद्धि पच्यन्त नाञ्जो अञ्ज विसोधये॥ (पा.)

शुद्धिः अशुद्धि प्रत्यसात्मं नान्याऽन्यं विशोधयेत्। (सं.)

धप, १६५

शुद्धि और अशुद्धि प्रत्येक मनुष्य पर निर्भर है। कोई (किसी) दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता।

श्रद्धा

१३२६. सुदु (र) ल्लभा श्रद्धा।

लवि, २६.१४३३

श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है।

१३२७. श्रद्धाधनं श्रेष्ठतमं धनेभ्यः।

सौ., ५.२४

धनों में श्रेष्ठतम धन श्रद्धा है।

१३२८. नेच्छन्ति याः शोकमवाप्तुमेवं श्रद्धातुमर्हन्ति न ता नराणाम्।

सौ., ६.१९

जो (स्त्रियाँ) शोक को नहीं प्राप्त करना चाहती हैं, उन्हें मनुष्यों के प्रति श्रद्धा भी करनी चाहिये।

१३२९. धर्मस्य चोत्पत्तौ श्रद्धा कारणमुत्तमम्।

सौ., १२.४०

धर्म की उत्पत्ति में श्रद्धा उत्तम कारण है।

१३३०. व्याकुलं दर्शनं यस्य दुर्बलो यस्य निश्चयः।

तस्य पारिप्लवा श्रद्धा न हि कृत्याय वर्तते॥

सौ., १२.४२

जिसकी दृष्टि व्याकुल है और जिसका निश्चय दुर्बल है उसकी अस्थिर श्रद्धा किसी श्रेष्ठ कार्य के लिए उपयोगी नहीं है।

१३३१. श्रद्धावृक्षो भवति सफलश्चाश्रयश्च॥

सौ., १२.४३

श्रद्धारूपी वृक्ष फल और आश्रय देने वाला होता है।

श्रमण

१३३२. समितावि पहाय पुञ्जपापं, विरजो जत्वा इमं परं च लोकं।
जातिमरणं उपातिवत्तो, समणो तादि पवुच्चते तथत्ता॥

सुनि, ३.६.११

जो पुण्य और पाप को दूर कर शान्त हो गया है, इस लोक और परलोक को जानकर मल-रहित हो गया है, जो जन्म और मृत्यु से परे हो गया है, जो स्थिर और स्थितात्मा है, वह श्रमण कहा जाता है।

१३३३. इच्छालोभ समापन्नो, समणो किं भविस्सति। (पा.)
इच्छालोभसमापन्नः श्रमणः किं भविष्यति। (सं.)

धप, २६४

इच्छा और लोभ से भरा (मनुष्य) श्रमण क्या होगा?

१३३४. समितत्ता हि पापानं' समणा ति पवुच्चति। (पा.)
शमितत्वाद् हि पापानां श्रमण इति प्रोच्यते। (सं.)

धप, २६५

पापों के शमित (शान्त) होने के कारण ही श्रमण कहा जाता है।

१३३५. सामञ्जं दुण्णरामद्धं, निरय्याय उपकड्ढति॥ (पा.)
श्रामण्यं दुष्परामृष्टं निरयायोपकर्षति। (सं.)

धप, ३११

ठीक तरह से ग्रहण न किया गया श्रामण्य नरक के लिए खींचता है।

१३३६. समचरिया समणोति वुच्चति। (पा.)
समचर्यः श्रमण इत्युच्यते। (सं.)

धप, ३८८

समता का आचरण करने वाला 'श्रमण' कहा जाता है।

श्रम-शौर्य

१३३७. दुक्खं सेति पराजितो। (पा.)
दुःखं शेते पराजितः। (सं.)

धप, २०१

पराजित हुआ (मनुष्य) दुःख (की नींद) सोता है।

१३३८. अत्तना चोदयत्तानं। (पा.)
आत्मना चोदयेद् आत्मानम्। (सं.)

धप, ३७९

अपने द्वारा अपने को प्रेरित करे।

१३३९. पटिवासे अत्तमत्तना। (पा.)
प्रतिवसेद् आत्मानमात्मना। (सं.)
अपने द्वारा अपने को संलग्न करें।
धप, ३७९
१३४०. स्वयं यतध्वं सदा प्रयत्नेन।
अपने आप परिश्रम से जतन करो।
लवि, ४.६८
१३४१. न चाप्यकृत्वा भवति सिद्धिः।
बिना किये सिद्धि नहीं होती।
लवि, ४.६८
१३४२. संग्रामे मरणं श्रेयो यच्च जीवेत्पराजितः।
हार खाकर जो जीना है, उससे युद्ध में मरना कहीं अच्छा है।
लवि १८.८३५
१३४३. खद्योतकैर्यदि भवेत् त्रिसहस्र पूर्णा।
एको रविग्रसति निष्प्रभतो करोति॥
यदि जुगनुओं से त्रिसाहस (लोक धातु) भर जाए, तो भी एक अकेला सूर्य उसे ग्रस लेता है, निस्तेज कर देता है।
लवि, २१. ९५०
१३४४. बहवः श्रृगाला हि वनान्तरेषु
नदन्ति नादान् न— सतीह सिहे।
सिंह के न होने पर जंगलों के भीतर बहुत से सियार हुआ-हुआ करते हैं।
लवि, २१.९९५
१३४५. वृथापि खेदो हि वरं शुभात्मनः सुखं न तत्त्वेऽपि विगर्हितात्मनः।
शुभाचारी का वृथा परिश्रम भी अच्छा है (किन्तु) अशुभाचारी का यथार्थ सुख भी अच्छा नहीं है।
बु, ९.७५
१३४६. निर्बन्धिनः किंचन नास्त्यसाध्यम्।
दृढ़ प्रतिज्ञ के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है।
बु, १३.६०
१३४७. निरालसो वीर्यमाधाय श्रेय आचर।
आलस्य छोड़कर और वीर्य का अवलम्बन लेकर श्रेय का आचरण करो।
बु, २५.८०

१३४८. दुर्लभान्यपि कार्याणि सिद्ध्यन्ति प्रोद्यमेन वै।
शिलापि तनुतां याति प्रपातेनार्णसो मुहुः॥

बु., २६.६३

दुर्लभ कार्य भी विशेष उद्यम से सिद्ध होते हैं। जल के बराबर गिरने से शिला भी पतली पड़ जाती है।

१३४९. अरणीमन्थने जातु यो विरन्तुं न चेष्टते।
स एव लभते वह्निमेवं सिद्धेरपि प्रथा॥

बु., २६.६४

अरणी—मन्थन में जो कभी विश्राम नहीं लेता, वही अग्नि प्राप्त करता है। सिद्धि को प्राप्त करने की भी यही रीति है।

१३५०. उद्यमो मित्रवद् ग्राह्यः प्रमादं शत्रुवत्यजेत्।
उद्यमेन परा सिद्धिः प्रमादेन क्षयो भवेत्॥

बु., २६.७३

उद्योग को मित्र की तरह ग्रहण करना चाहिये। प्रमाद को शत्रु की भाँति त्यागना चाहिये। उद्यम से परम सिद्धि मिलती है (तथा) प्रमाद से क्षय मिलता है।

१३५१. वीर्यं परं कार्यकृतौ हि मूलम्।

सौ., १६.९४

कार्य की सफलता का मूल कारण श्रेष्ठ पराक्रम है।

१३५२. वीर्यादृते काचन नास्ति सिद्धिः।

सौ., १६.९४

पराक्रम के बिना कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती है।

१३५३. नृणां निर्वीर्याणां भवति विनिपातः।

सौ., १६.९५

पराक्रम—रहित पुरुषों का निश्चितरूप से पतन होता है।

१३५४. विनियतं वीर्ये हि सर्वर्द्धयः।

सौ., १६.९८

वीर्य में ही सभी ऋद्धियाँ विद्यमान होती हैं।

१३५५. शूरोऽप्यशूरः स हि वेदितव्यो दोषैरभिप्रैरिव हन्यते यः।

सौ., १८.२८

उस वीर को कायर समझना चाहिये जो शत्रु के समान दोषों से पराजित हो जाता है।

१३५६. दक्ष उत्थानसम्पन्नः स्वयंकारी सदा भवेत्।
नावकाशः प्रदातव्यः कस्यचित्सर्वकर्मसु॥

बोधिव, ५.८२

मनुष्य को सदा कार्यकुशल, प्रगतिशील तथा स्वावलम्बी होना चाहिये।
सभी कामों में किसी को भी अपने लिये कुछ करने का अवसर नहीं देना चाहिये।

१३५७. सर्वथा धिगशक्तिताम्।

जामा, ६.१४, पृ. ६६

शक्तिहीनता को सर्वथा धिक्कार है।

१३५८. नापत्त्रतीकारविधिर्विषादः।

जामा, १४.१०

मुसीबत से छुटकारा पाने का उपाय दुःखी होकर बैठ जाना नहीं है।

१३५९. भग्ने स्वसैन्ये विनिवर्तमानः पन्थानमावृत्य रिपुध्वजिन्याः।
सङ्कोचयत्येव मदावलेपमेकोऽप्यसम्भाव्यपराक्रमत्वात्॥

जामा, ११.१५, पृ. १६३

अपनी सेना के तितर-बितर होने पर यदि एक भी योद्धा लौटकर शत्रु-
सेना का रास्ता रोक ले तो अपने असम्भावित पराक्रम के कारण वह अकेला ही उस
(सेना) का अभिमान चूर-चूर कर सकता है।

संयोग-वियोग

१३६०. न भवति निरूपलम्भे न प्रीतिरेवं नराणां
भवति सुतवियोगाद्यादृशं दौर्मनस्यम्।
ननु वरसुखिनस्ते येन पुंसाभियोगा
मरणमुपगता वा ये न जीवन्ति पुत्राः॥

सुप्रसू., १९.१६

पुत्र की प्राप्ति पर मनुष्यों को इतना सुख प्राप्त नहीं होता, जितना पुत्र
के अलग होने से दुःख प्राप्त होता है। वास्तव में वे लोग सुखी हैं, जिनके पुत्र नहीं
होते अथवा पुत्रों के जीवित रहते हुए मृत्यु को प्राप्त कर लेते हैं।

१३६१. वासवृक्षे समागम्य विगच्छन्ति यथाण्डजाः।
नियतं विप्रयोगास्तस्तथा भूतसमागमः॥

बु, ६.४६

जिस प्रकार पक्षी, निवास वृक्ष पर (रात्रि में) एकत्र होकर (प्रातः) वियुक्त
में हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणियों का समागम अवश्य ही वियोगान्त है।

१३६२. समेत्य च यथा भूयो व्यपयान्ति बलाहकाः।
संयोगो विप्रयोगश्च तथा मे प्राणिनां मतः॥

बु., ६.४७

जैसे बादल मिलकर फिर विलग हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणियों का भी संयोग और वियोग होता है— ऐसा मेरा मत है।

१३६३. इहैति हित्वा स्वजनं परत्र प्रलभ्य चेहापि पुनः प्रयाति।
गत्वापि तत्राप्यपरत्र गच्छत्येवं जने त्यागिनि कोऽनुरोधः॥

बु., ९.३६

मनुष्य पूर्वजन्म में स्वजनों को छोड़कर यहाँ आता है, फिर यहाँ से भी (स्वजनों को) धोखा देकर चला (मर) जाता है, वहाँ भी जाकर फिर अन्यत्र चला जाता है। इस प्रकार त्याग करने वाले प्राणी के प्रति क्या आग्रह?

१३६४. विहगानां यथा सायं तत्र तत्र समागमः।
जातौ जातौ तथाश्लेषो जनस्य स्वजनस्य च॥

सौ., १५.३३

जिस प्रकार पक्षियों का (वृक्षों पर अपने-अपने घरों में) सायंकाल समागम होता है उसी प्रकार अपने और पराए लोगों का अलग-अलग जन्मों में मिलन होता है।

१३६५. प्रतिश्रयं बहुविधं संश्रयन्ति यथाध्वगाः।
प्रतियान्ति पुनस्त्यक्त्वा तद्वज्जातिसमागमः॥

सौ., १५.३४

जैसे यात्री अनेक तरह से आश्रयों का आश्रय लेते हैं और छोड़कर चले जाते हैं उसी प्रकार बन्धु-बान्धवों का मिलन होता है।

१३६६. व्यतीत्य न हि शीतांशुं चन्द्रिका स्थातुमर्हति।

जामा, ९.९९, पृ. १४३

चन्द्रमा को छोड़कर चाँदनी नहीं रह सकती।

१३६७. एष लोकस्य नियतः शोकातिविरसः क्रमः।
सह स्थित्वापि सुचिरं मृत्युना यद्वियोज्यते॥

जामा, १९.१, पृ. २३१

संसार का यह दुःखदायी किन्तु निश्चित नियम है कि चिरकाल तक साथ रहकर भी मृत्यु के कारण (परस्पर) अलग होना पड़ता है।

१३६८. कः सम्प्रयोगो न वियोगनिष्ठः काः सम्पदो या न विपत्परैति।
जगत्प्रवृत्ताविति चञ्चलायामप्रत्यवेक्ष्यैव जनस्य हर्षः॥

जामा, ३२.१४

ऐसा कौन सा मिलन है जिसका अन्त वियोग नहीं? वह कौन सी सम्पत्ति है जिसको विपत्ति नहीं घेरती? संसार की स्थिति ऐसी अस्थिर होने पर भी लोग (उस सच्चाई) को न देखकर ही आनन्द मनाते हैं।

१३६९. बहन्तरायो... बहूपद्रवप्रत्यर्थिकत्वाल्लोकसन्निवेशः।

जामा, पृ. २९९
लोगों का मिलन अनेक उपद्रवों और विषमताओं से घिरा है।

संस्कार

१३७०. संस्कारानं निरोधेन, नत्थि दुक्खस्स सम्भवो।

संस्कारों के निरोध से दुःख उत्पन्न नहीं होता।

सुनि, ३.१२.८

१३७१. सङ्खारा परमा दुखा। (पा.)

संस्काराः परमाः दुःखाः। (सं.)

धप, २०३

संस्कार सबसे बड़े दुख हैं।

१३७२. सब्बे संखारा अनिच्चाति। (पा.)

सर्वे संस्कारा अनित्या। (सं.)

धप, २७७

सभी संस्कार अनित्य हैं।

१३७३. संस्कार अनित्य अधुवाः आमकुम्भोपम भेदनात्मकाः।

लवि, १३.४७९

संस्कार (= बनावटी-पदार्थ) एक जैसे न रहने वाले, न टिकने वाले, कच्चे घड़े के जैसे टूटने के स्वभाव वाले हैं।

१३७४. संस्कार प्रलोपधर्मिमे।

लवि, १३.४८०

इन संस्कारों (= बनावटी पदार्थों) का धर्म (= स्वभाव) लोप होने का अर्थात् नष्ट होने का है।

१३७५. हेतुभि च प्रत्ययेभि चा सर्वसंस्कारगतं प्रवर्तते।

लवि, १३.४८३

सब संस्कारों (= बनावटी-पदार्थों) में (जो कुछ) होता है वह हेतु-प्रत्ययों अर्थात् कारण-सामग्री से होता है।

१३७६. संस्कार अविद्यप्रत्ययाः।

लवि, १३.४८७

अविद्या के प्रत्यय से (=कारण सामग्री से) संस्कार उत्पन्न होते हैं।

१३७७. संस्कारानुच्छेद अशाश्वताः।

लवि, १३.४८८

संस्कार न तो उच्छिन्न होते हैं और न नित्य होते हैं।

सत्पुरुष

१३७८. न हि सन्तो पटिसेनिकरोन्ति।

सुनि, ४.१४.१८

सन्त पुरुष प्रतिहिंसक नहीं होते हैं।

१३७९. सप्पुरिसो पवाति। (पा.)

सत्पुरुषः प्रवाति। (सं.)

धप, ५४

सत्पुरुष (का यश) सभी दिशाओं में व्याप्त हो जाता है।

१३८०. सब्बत्थ वे सत्पुरिसा चजन्ति। (पा.)

सर्वत्र वै सत्पुरुषाः चकन्ति। (सं.)

धप, ८३

सत्पुरुष सर्वत्र संतुष्ट रहते हैं।

१३८१. अस्सद्धो अकतञ्जू च, सन्धिच्छेदो च यो नरो।

हतावकासो वन्तासो, स वे उत्तमपोरिसो॥ (पा.)

अश्रद्धोऽकृतज्ञश्च सन्धिच्छेदश्च यो नरः।

हतावकाशो वान्ताशः स वै उत्तमपुरुषः॥ (सं.)

धप, ९७

जो व्यक्ति अश्रद्धालु, अकृतज्ञ, सन्धि भंग करने वाला, दृढ़ और आशा शून्य है, वह निश्चय ही उत्तम पुरुष है।

१३८२. न चाहु न च भविस्सति न चेतर्हि विज्जति।

एकन्तं निन्दितो पोसो, एकन्तं व पससितो॥ (पा.)

ना चाभूत् न च भविष्यति न चैतर्हि विद्यते।

एकान्तं निन्दितः पुरुषः एकान्तं वा प्रशंसितः॥ (सं.)

धप, २२८

बिल्कुल निन्दित अथवा बिल्कुल प्रशंसित पुरुष न तो (कभी) हुआ है, न (कभी) होगा और न यहाँ विद्यमान (ही) है।

१३८३. दूरे सन्तो पकासेन्ति हिमवन्तो व पब्बतो॥ (पा.)

दूरे सन्तः प्रकाशन्ते हिमवन्त इव पर्वताः। (सं.)

धप, ३०४

बर्फीले पर्वतों के समान सन्त दूर से ही प्रकाशित होते हैं।

१३८४. दधिक्षीरपूर्णघटतुल्य सदैव आर्या।

लवि, १२.३७८

आर्य पुरुष दूध-दही से भरे घड़े के समान शुद्धात्मा है।

१३८५. रमते तृषितो धनश्रिया रमते कामसुखेन बालिशः।

रमते प्रशमेन सज्जनः परिभोगान्परिभूय विद्यया॥

सौ., ८.२६

तृष्णा से ग्रस्त व्यक्ति धन-सम्पत्ति में भ्रमण करता है और मूर्ख व्यक्ति काम-वासना के सुख में रमण करता है किन्तु सत्पुरुष विद्या के द्वारा सभी भोगों को जीतकर शान्ति के साथ रमण करता है।

१३८६. निधनमपि वरं स्थिरात्मनश्च्युतविनयस्य न चैव जीवितम्।

सौ., ८.५७

स्थिर स्वभाव वाले पुरुष के लिए विनयरहित होकर जीने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है।

१३८७. ब्रजति गुणपथेन च स्वयं नयति परानपि तेन वर्त्मना।

जामा, ७.३०

वह (धीर पुरुष) स्वयं तो सद्गुणों के मार्ग पर चलता ही है (किन्तु) दूसरों को भी उस मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है।

१३८८. पापं समाचरति वीतघृणो जघन्यः प्राप्यापदं सघृण एव तु मध्यबुद्धिः।

प्राणात्ययेऽपि तु न साधुजनः स्ववृत्तिं वेलां समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थः॥

जामा, ११.१८

नीच पुरुष अपनी क्रूरता के कारण (सदैव) पापाचरण करता है किन्तु मध्यम-बुद्धिमान् दयालु पुरुष (सामान्य स्थिति में नहीं किन्तु) मुसीबत में फँसकर पापकर्म करता है किन्तु जो साधु पुरुष हैं वे प्राण जाने की परिस्थिति में भी अपने सद्व्यवहार का उसी तरह उत्लंघन नहीं करते जैसे कि सागर अपनी मर्यादा को कभी नहीं लाँघता।

१३८९. निन्दादिदुःखेषु परान्निपात्य नेष्टा सतामात्मसुखप्रवृत्तिः।

जामा, १३.३६

दूसरों को (लोक-) निन्दा आदि के दुःख में डालकर अपने लिए सुख पाने की सत्पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं होती।

१३९०. गुणाभ्यासेन साधूनां कृतं तिष्ठति चेतसि।
अश्रयत्यपकृतं तस्माज्जलं पद्मदलादिव॥

जामा, २३.२२

साधुओं के हृदय में, सद्गुणों के अभ्यास के कारण पूर्वकृत उपकार बना रहता है किन्तु उनके हृदय से अपकार उसी प्रकार गिर पड़ता है जिस प्रकार कमल के पत्ते से पानी।

१३९१. प्रसाध्य सौख्यं व्यसनं निवर्त्य वा सहापि दुःखेन परस्य सज्जनः।
उपैति तां प्रीतिविशेषसंपदं न यां स्वसौख्येषु सुखागतेष्वपि॥

जामा, ३४.८

सज्जन स्वयं दुःख सहता हुआ भी दूसरे का दुःख दूर कर या उसे सुख पहुँचाकर आनन्द पाता है। उतना (आनन्द) सहसा प्राप्त होने वाली अपनी सुख-सम्पत्ति से भी नहीं पाता।

१३९२. न सत्त्ववन्तः शक्यन्ते भयादप्यगतिं गमयितुम्।

जामा, पृ. ४७

सात्त्विक पुरुष डरा-धमकाकर भी कुमार्ग पर नहीं चलाये जा सकते।

१३९३. तीव्रदुःखातुराणामपि सतां नीचमार्गनिष्प्रणयता
भवति स्वधैर्यावष्टम्भात्।

जामा, पृ. १७३

सत्पुरुष तीव्र दुःखों से पीड़ित होने पर भी अपने धैर्य की स्थिरता और धर्म के प्रति अभ्यास के कारण नीच मार्ग के प्रति उदासीन होते हैं।

१३९४. परहितोदकं दुःखमपि साधवो लाभमिव बहुमन्यन्ते।

जामा, पृ. ४०८

सज्जनों को अपना ऐसा दुःख भी लाभ के समान प्रतीत होता है जिससे दूसरों का कल्याण होता है।

१३९५. प्रोत्साह्यमानोऽपि साधुर्नालं पापे प्रवर्तितुमभ्यासात्।

जामा, पृ. ४७५

प्रोत्साहित किए जाने पर भी सज्जन, अभ्यास के अभाव में, पापकर्म में प्रवृत्त नहीं होते हैं।

सत्य

१३९६. सच्चेन कितिं पप्नोति।

सुनि, १.१०.७

सत्य से यश प्राप्त होता है।

१३९७. सच्चं वे अमता वाचा, एस धम्मो सनन्तनो।

सुनि., ३.३.४

सत्य ही अमृत वचन है— यह सदा का नियम है।

१३९८. एकं हि सच्चं न दुतियमत्थि।

सुनि., ४.१२.७

सत्य एक ही है, दूसरा नहीं।

१३९९. न हेव सच्चानि बहूनि नाना अज्जत्र सज्जाय निच्चानि लोके।

सुनि., ४.१२.९

संज्ञा के अतिरिक्त संसार में बहुत से और विभिन्न प्रकार के सत्य तथा नित्य नहीं हैं।

१४००. आत्मानं मन्यमानेन न सत्यमुपलभ्यते॥

बु., १६.७७

आत्मा को मानने वाले के द्वारा कभी सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

१४०२. ...न हि कृच्छ्रेऽपि सन्त्यक्तुं सत्यमिच्छन्ति साधवः।

जामा, १७.१०, पृ. २१६

सत्पुरुष विपत्ति में पड़कर भी सत्य को छोड़ना नहीं चाहते हैं।

१४०२. सतां तु सत्यं वसु जीवितं च।

जामा, ३१.२२, पृ. ४३१

सज्जनों के लिए सत्य ही धन और जीवन है।

१४०३. न जीवितं यत्सुखमैहिकं वा सत्याच्च्युतं रक्षति दुर्गतिभ्यः।

सत्यं विजह्यादिति कस्तदर्थं यच्चाकरः स्तुतिशः सुखानाम्॥

जामा, ३१.२३, पृ. ४३१

इह लौकिक सुख से बचे हुए जीवन में ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि सत्य मार्ग से पतित हुए मनुष्य की दुर्गतियों से रक्षा कर सके। तब उस (जीवन या सुख) के लिए कौन सत्य मार्ग को छोड़ेगा जो (सत्य) स्तुति, कीर्ति और सुख का (भी) मूल कारण है।

१४०४. माल्यश्रियं हृद्यतयातिशेते सर्वान् रसान् स्वादुतया च सत्यम्।

श्रमादृते पुण्यगुणप्रसिद्ध्या तपासि तीर्थाभिगमश्रमांश्च॥

जामा, ३१.५७, पृ. ४४१

सत्यवचन मनोहरता में माला की शोभा से और स्वाद में सभी रसों से बढ़कर होते हैं तथा परिश्रम के बिना ही पुण्य की प्राप्ति कराने से वे श्रम—साध्य तपस्या और तीर्थयात्रा (आदि के पुण्य) से भी बढ़कर हैं।

१४०५. सत्याधिष्ठानमेकमार्तयिनम्।

जामा, पृ. २०६

दुःखी प्राणियों का एकमात्र सहारा सत्य का प्रभाव है।

१४०६. सत्यपरिभावितां वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति।

जामा, पृ. २०९

सत्य से पवित्र बनी वाणी का उल्लंघन अग्नि भी नहीं कर सकता।

१४०७. स्वप्राणसुखैश्वर्यनिरपेक्षाः सत्यमनुरक्षन्ति सत्पुरुषाः।

जामा, पृ. ४५२

सत्पुरुष अपने जीवन, सुख और ऐश्वर्य की उपेक्षा करके भी सत्य की रक्षा करते हैं।

सद्गुण

१४०८. यस्मिन्द्रियानि भावितानि, अज्ज्ञातं वहिद्वा च सब्बलोके।

निब्बिज्झ इमं परं च लोकं, कालं कङ्खति भावितो स दन्तो।

सुनि, ३.६.७

जिसकी इन्द्रियाँ भीतर और बाहर सारे लोक में वश में कर ली गई हैं, जो इस लोक और परलोक को जानकर समय की प्रतीक्षा करता है अर्थात् मृत्यु की राह देखता है, वह संयमी है, वह दान्त है।

१४०९. जयं वेरं पसवति। (पा.)

जयो वैरं प्रसूते। (सं.)

धप, २०९

विजय शत्रुता को उत्पन्न करती है।

१४१०. उपसन्तो सुखं सेति, हित्वा जयपराजय। (पा.)

उपशान्तः सुखं शेते हित्वा जयपराजयौ। (सं.)

धप, २०९

जय-पराजय को त्यागकर पूर्णतया शान्त (मनुष्य) सुख (की नींद) सोता है।

१४११. विस्सास परमा जाति। (पा.)

विश्वासः परमा ज्ञातिः। (सं.)

धप, २०४

विश्वास परम बन्धु है।

१४१२. असज्जायमला मन्ता। (पा.)
अस्वाध्यायमला मन्त्रा। (सं.)

घप, २४१

स्वाध्याय न करना मन्त्रों का मल है।

१४१३. को जनस्य फलस्थस्य न स्यादभिमुखो जनः।
जनीभवति भूयिष्ठं स्वजनोऽपि विपर्यये॥

बु, ६.९

फल देने में समर्थ व्यक्ति का आज्ञावशवर्ती कौन नहीं होगा? अर्थात् सब होते हैं इसके विपरीत (अकिञ्चन व्यक्ति) के प्रति स्वजन भी अत्यन्त साधारण जन के समान हो जाता है।

१४१४. स्पृष्टं हि यद्यद्गुणवद्भिर्म्मस्तत्तत्पृथिव्यां यदि तीर्थमिष्टम्।
तस्माद् गुणानेव परैभि तीर्थमापस्तु निःसंशयमाप एव॥

बु, ७.३१

गुणवानों (ज्ञानवानों) के द्वारा जो-जो जल स्पर्श किया गया यदि वह जल पृथिवी पर तीर्थ है तब तो गुणों को ही मैं तीर्थ समझता हूँ क्योंकि जल तो निस्सन्देह जल ही है।

१४१५. कामेन कमनीयं हि यशो हेयं न कर्हिचित्।

बु, २३.१६

काम से भी कमनीय यश को कभी-भी नहीं त्यागना चाहिये।

१४१६. संग्रहो नातिकर्तव्यो दुःखभागन्यथा भवेत्।

बु, २६.४४

अधिक संग्रह नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे व्यक्ति दुःख का भागी बनता है।

१४१७. रजः प्रकर्षेण जगत्यवस्थिते कृतज्ञभावो हि कृतज्ञ दुर्लभः।

सौ., १८.५२

रजोगुण की अधिकता के कारण संसार में कृतज्ञता का भाव दुर्लभ है।

१४१८. न जातिर्दृश्यते तावद् गुणाः कल्याणकारकाः।

व., १८

जाति नहीं, गुण ही कल्याण के लिए उत्तरदायी होते हैं।

१४१९. परोक्षं च गुणान् ब्रूयात्।

बोधिच, ५.७६

गुणों की प्रशंसा पीठ पीछे करना चाहिये।

१४२०. मणिर्हि शोभानुगतोऽप्यतोऽन्यथा न संस्पृशेद्रत्नयशोमहार्घताम्।

जामा, ५.३२, पृ. ६०

मणि कितनी ही सुन्दर हो किन्तु परीक्षा के बिना उसे रत्न का यश और मूल्य प्राप्त नहीं हो सकता।

१४२१. अविस्मयः श्रुतवतां समृद्धानाममत्सरः।

सन्तोषश्च वनस्थानां गुणशोभाविधिः परः॥

जामा, ७.६, पृ. ८०

वेदज्ञानियों में अभिमान न होना, धनवानों में द्वेष न होना और वन में रहने वालों का सन्तोषी होना उनके गुणों की शोभा का श्रेष्ठ उपाय है।

१४२२. वशीकरणमन्त्रा हि नित्यमव्याहता गुणाः।

अपि द्वेषाग्नितप्तानां किं पुनः स्वस्थचेतसाम्॥

जामा, १२.२, पृ. १६५

नित्य और अखण्ड रहने वाले सदगुण, द्वेषाग्नि से जलने वाले (शत्रुओं) के लिए भी वशीकरण मन्त्र (की तरह) होते हैं फिर शान्त चित्त वाले लोगों पर उन (सदगुणों) के प्रभाव का तो कहना ही क्या?

१४२३. अवेत्य को नाम गुणागुणान्तरं गुणोपमर्दं धनमूल्यतां नयेत्।

जामा, १२.१८, पृ. १७१

सदगुण और दुर्गुण के भेद को जानकर भी भला कौन (समझदार पुरुष) सदगुण का हनन करके बदले में धन लेना चाहेगा?

१४२४. विगुणेषु गुणोक्तिर्हि क्षेपरूक्षतराक्षरा॥

जामा, १३.४३, पृ. १८७

गुणहीनों के लिए गुणवान् होने का उपदेश निन्दा से युक्त रूखा वचन ही होगा।

१४२५. आदेयतरतां यान्ति कुलरूपगुणाद् गुणाः।

आश्रयातिशयेनैव चन्द्रस्य किरणाङ्कुराः॥

जामा, १८.४, पृ. २२४

(अच्छे) कुल और सौन्दर्य को पाकर सदगुण (उसी प्रकार) और अधिक आदरणीय बन जाते हैं जैसे चन्द्रमा की किरणें उत्तम आश्रय से (और अधिक चमकने लगती हैं)।

१४२६. गुणसंभावनाव्यक्तिर्यत्परीक्ष्योपलभ्यते।

जामा, १९.२९, पृ. २४२

जो बात परीक्षा करके ग्रहण की जाती है उससे उस बात के गुणों के प्रति आदरभाव (बढ़ता एवं) प्रकट होता है।

१४२७. संभावनायां गुणभावनायां संदृश्यमानो हि यथा तथा वा।

विशेषतो भाति यशः प्रसिद्ध्या स्यात्वन्यथा शुष्क इवोदपानः॥

जामा, २०.१९, पृ. २५०

गुणों की प्रशंसा से सम्मानित होकर जब कोई पुरुष वैसा आचरण करता हुआ देखा जाता है तो वह अपने यश से अत्यधिक शोभा पाता है किन्तु अन्यथा अर्थात् गुण-प्रशंसा के विपरीत आचरण करने वाला (उस) सूखे कुँए के समान है (जिसकी ओर कोई नहीं जाता)।

१४२८. गुणप्रवादैर्यथार्थवृद्धैर्विमर्शपाताकुलितः पतद्भिः।

विचूर्णिता कीर्तितनुरराणां दुःखेन शक्नोति पुनः प्रसर्तुम्॥

जामा, २०.२०, पृ. २५०

जब गुणों के बारे में झूठी लोक-चर्चा बढ़ने लगती है और वे चर्चाएँ विचारों के प्रहार से आहत होकर गिर पड़ती हैं (झूठी सिद्ध हो जाती हैं), तब मनुष्यों की कीर्ति भी चूर-चूर होकर नष्ट हो जाती है और बाद में वह कठिनाई से ही फेल सकती है।

१४२९. इति प्रशंसासुभगाः सुखा गुणा न दोषदुर्गेषु वसन्ति भूतयः।

इमां विदित्वा गुणदोषधर्मतां सचेतनः कः स्वहितोत्पथं भजेत्॥

जामा, २२.९३, पृ. २९०

गुण प्रशंसा के योग्य और सुखद होते हैं। जहाँ दोषों का निवास है वहाँ सम्पत्ति या शुभ नहीं रहता है। गुण और दोष के इस स्वभाव को जानकर कौन ज्ञानी अपने हित के विरोधी मार्ग पर चलेगा?

१४३०. न देशमाप्नोति पराक्रमेण तं न कोशवीर्येण न नीतिसम्पदा।

श्रमव्ययाभ्यां नृपतिर्विनैव यं गुणाभिजातेन पथाधिगच्छति॥

जामा, २२.९४, पृ. २९१

(कोई भी) राजा पराक्रम, सम्पत्ति या नीति से उस पद को नहीं पा सकता, जिसे श्रम और व्यय के बिना ही वह सदगुणों के मार्ग पर चलकर प्राप्त करता है।

१४३१. सुराधिपश्चरिषि वीक्षते गुणान् गुणोदितानेव परैति सन्नतिः।

गुणेभ्य एव प्रभवन्ति कीर्तयः प्रभावमाहात्म्यमिति श्रितं गुणान्॥

जामा, २२.९५, पृ. २९१

देवराज इन्द्र की लक्ष्मी भी गुणों को देखती है, विनम्रता सदगुणों से सम्पन्न व्यक्तियों के पास ही जाती है। गुणों से ही यश मिलता है और महाप्रभाव गुणों पर ही निर्भर करता है।

१४३२. अमर्षदोषोद्भवकर्कशान्यपि प्ररूढवैरस्थिरमत्सराण्यपि।

प्रसादयन्त्येव मनासि विद्विषां शशिप्रकाशाधिककान्तयो गुणाः॥

जामा, २२.९६, पृ. २९१

चन्द्रमा के प्रकाश से भी अधिक मनोहर गुणों का यह प्रभाव है कि वे क्रोध, अभिमान और निर्लज्जता से कठोर तथा वैर, द्वेषभाव से ग्रस्त शत्रुओं के मन को भी प्रसन्न (निर्भय) कर देते हैं।

१४३३. गुणा हि पुण्याश्रयलब्धदीप्तयो गताः प्रियत्वं प्रतिपत्तिशोभया।

अपि द्विषद्भ्यः स्वयशोनुरक्षया भवन्ति सत्कारविशेषभागिनः॥

जामा, २३.१, पृ. २९३

पुण्य का आश्रय पाकर गुण चमक उठते हैं और व्यवहार में आने से (संसार के लिए) प्रिय बन जाते हैं। शत्रु भी अपने यश की रक्षा के लिए भयवश इनका विशेष सत्कार करते हैं।

१४३४. विभूतिगुणसम्पन्नमुपेत प्रणयाद् गृहम्।

गुणप्रियस्य गुणवानुत्सवातिशयोऽतिथिः॥

जामा, २३.२, पृ. २९४

वैभव के गुणों से सम्पन्न घर में प्रेमपूर्वक आया हुआ गुणी अतिथि गुणप्रिय (गृहस्वामी) के लिए विशेष उत्सव की तरह ही होता है।

१४३५. अभ्यासयोगेन हि सज्जनस्य स्वभावतामेव गुणा व्रजन्ति।

जामा, २५.२३, पृ. ३३८

अभ्यास के द्वारा गुण सज्जन का स्वभाव ही बन जाता है।

१४३६. न चित्ररूपा सुजने कृतज्ञता।

कृतज्ञताऽप्यद्य गुणेषु गण्यते।

जामा, २६.११

सज्जन का कृतज्ञ होना आश्चर्य की बात नहीं है। आज कृतज्ञता भी गुणों में ही गिनी जाती है।

१४३७. गुणैर्विहीनस्य विपन्नकीर्तौदोषोदयैरावसथीकृतस्य।

गतिर्भवैतस्य च नाम कान्या ज्वालाकुलेभ्यो नरकानलेभ्यः॥

जामा, २७.३१, पृ. ३६७

जो गुणों से शून्य है, जिसका यश नष्ट हो गया है और जो दोषों का घर बन गया है उसके लिए नरक की प्रज्वलित अग्नियों के अलावा और कहाँ स्थिति हो सकती है? (अर्थात् ऐसा व्यक्ति अवश्य ही नरक का भागी बनता है)।

१४३८. निवसन्ति हि यत्रैव सन्तः सदगुणभूषणाः।
तन्मङ्गल्यं मनोज्ञं च तत्तीर्थं तत्तपोवनम्॥

जामा, २८.४, पृ. ३७०

सदगुणों से विभूषित सत्पुरुष जहाँ भी रहते हैं वह स्थान मंगलमय और मनोहर हो जाता है, वह तीर्थ और तपोवन बन जाता है।

१४३९. कुलस्य रूपस्य वयोगुणस्य वा बलप्रकर्षस्य धनोच्छ्रयस्य वा।
इहाप्यलङ्कारविधिगुणादरः समृद्धिसूचैव तु हेममालिका॥

जामा, २८.१८, पृ. ३७५

इस संसार (जीवन) में भी कुल, रूप, अवस्था, बलातिशय या धन-सम्पत्ति की शोभा गुणानुराग से ही होती है। सोने का हार तो समृद्धि का लक्षण मात्र है।

१४४०. अलङ्क्रियन्ते कुसुमैर्महीरुहास्तडिदगुणैस्तोयविलम्बिनो घनाः।
सरासि मत्तभ्रमरैः सरोरुहैर्गुणैर्विशेषाधिगतैस्तु देहिनः॥

जामा, २८.१९, पृ. ३७५

पेड़ फूलों से (सुशोभित होते हैं), जलभार से झुके हुए बादल बिजली से (सुशोभित होते हैं), सरोवर मस्त भौरों से घिरे हुए कमलों से (शोभा पाते हैं) और प्राणी विशेषरूप से अर्जित गुणों से ही शोभायमान होते हैं।

१४४१. न रूपशोभा रमते विना गुणैः।

जामा, ३०.३९, पृ. ४१९

सौन्दर्य बिना गुणों के अच्छा नहीं लगता है।

१४४२. रथा नृपाणां मणिहेमभूषणा व्रजन्ति देहाश्व जराविरूपताम्।
सतां तु धर्मः न जराभिवर्तते स्थिरानुरागा हि गुणेषु साधवः॥

जामा, ३१.७४, पृ. ४४६

मणियों और सोने से सुशोभित राजाओं के रथ और शरीर वृद्धावस्था के कारण जीण-शीर्ण हो जाते हैं। किन्तु सज्जनों का धर्म (सद्धर्म) कभी-भी जीण-शीर्ण नहीं होता । क्योंकि सदगुणों में उनका प्रेम स्थिर होता है।

१४४३. असंस्तुतमसम्बन्धं दूरस्थमपि सज्जनम्।

जनोन्वेति सुहृत्प्रीत्या गुणश्रीस्तत्र कारणम्॥

जामा, ३२.५, पृ. ४५६

जिसके साथ न परिचय है और न सम्बन्ध, उस दूरस्थ सत्पुरुष के पीछे भी लोग मित्र-भाव से चलते हैं। इसका कारण (उस) सज्जन में सदगुणों का होना है।

१४४४. असत्क्रिया हीनबलाच्च नाम निर्देशकालः परमो गुणानाम्।
गुणप्रियस्तत्र किमित्यपेक्ष्य स्वधैर्यभेदाय पराक्रमेत॥

जामा, ३३, १३, पृ. ४७२

दुर्बल के द्वारा अपमानित होना गुणों को उजागर करने का उत्तम अवसर है। वहाँ गुणानुरागी व्यक्ति क्या देखकर धैर्य छोड़ने का प्रयत्न करेगा?

१४४५. गुणेष्वारः कार्यः।

जामा, पृ. ७४

गुणों का सम्मान करना चाहिये।

१४४६. अभूतगुणसंभावना प्रतोदसञ्चोदनेव भवति साधूनाम्।

जामा, पृ. २४४

गुण विद्यमान न होने पर भी यदि वैसा (गुण विद्यमान है) कहा जाय तो इससे सज्जनों को अंकुश की तरह प्रेरणा मिलती है (अर्थात् जैसे अंकुश के प्रहार से प्रेरित हाथी आगे बढ़ता है उसी प्रकार किसी साधु पुरुष में गुण—विशेष न होने पर भी उसकी प्रशंसा करने से वह गुण—ग्रहण के लिए प्रेरणा ग्रहण करता है)।

१४४७. प्रतिसंख्यानबहुलाः स्वां गुणशोभामनुरक्षन्ति पण्डिताः।

जामा, पृ. ४८२

उचित अनुचित का भेद समझने वाले ज्ञानी अपने गुणों की शोभा की रक्षा करते हैं।

सन्तोष

१४४८. चातुदिसो अप्पटिघो च होति,
सन्तुस्समानो इतरीतरेन।

सुनि, १.३.८

जो मिले, उसी से सन्तुष्ट और (सबके प्रति) समान रहने वाला चारों दिशाओं में निर्भय होता है।

१४४९. सन्तुड्डी परम धन। (पा.)
सन्तुष्टिः परमं धनम्। (सं.)

धप, २०४

सन्तुष्टि परम धन है।

१४५०. तुद्ढी सुखा या इतरीतरेन। (पा.)
तुष्टिः सुखा या इतरेतरेण। (सं.)

धप, ३३१

जिस किसी भी वस्तु से जो तुष्टि होती है (वह) सुखदायिनी (होती है)।

१४५१. वरं हि भुक्तानि तृणान्यरण्ये तोषं परं रत्नमिवोपगुह्य।
सहोषितं श्रीसुलभैर्न चैव दोषैरदृश्यैरिव कृष्णसर्पैः॥

बु, ९.४३

वन में रत्न के समान सन्तोष की सुरक्षा करके, तृण खाकर रहना अच्छा है, किन्तु अदृश्य कृष्ण सर्प सदृश उन दोषों के साथ रहना अच्छा नहीं है, जो दोष धन के कारण सहज ही आ जाते हैं।

१४५२. तुष्टौ च सत्यां पुरुषस्य लोके सर्वे विशेषा ननु निर्विशेषाः।

बु, ११.४९

मनुष्य को संतोष हो जाने पर संसार में सब विशेषताएँ निरर्थक हो जाती हैं।

१४५३. सुखमिच्छसि पूर्णं चेत्संतोषमवलम्बताम्।
भूमावपि सुखं शेते तुष्टो नान्यस्त्रिविष्टपे॥

बु, २६.५९

यदि तुम पूर्ण सुख चाहते हो तो संतोष का अवलम्ब लो। संतोषी पृथ्वी पर भी सुख से सोता है, (किन्तु) अन्य (असंतोषी) स्वर्ग में भी सुख नहीं पाता है।

१४५४. प्रभूतेऽपि धनेऽतुष्टो दरिद्रः सोऽस्ति शाश्वतम्।
रिक्तेऽपि च धने तुष्टो धनिकः सोऽस्ति शाश्वतम्॥

बु, २६.६०

असंतोषी बहुत धन होने पर भी सदा दरिद्र ही रहता है। संतोषी निर्धन होने पर भी सदा धनवान् रहता है।

१४५५. सर्वारम्भा हि तुष्ट्यर्थाः।

बोधिच, ५.७७

सभी प्रकार के कार्यों का प्रारम्भ सन्तोष के लिए ही किया जाता है।

१४५६. दुराराधाः पृथग्जनाः।

बोधिच, ८.१०

सामान्य लोगों को प्रसन्न (या सन्तुष्ट) करना अति कठिन है।

१४५७. न क्वचिद् दुर्लभा वृत्तिः सन्तोषनियतात्मनाम्।
कुत्र नाम न विद्यन्ते तृणपर्णजलाशयाः॥

जामा, ७.५, पृ. ७९

सन्तोष में अपना मन स्थिर रखने वालों के लिए कहीं भी जीवन-निर्वाह करना कठिन नहीं है। क्योंकि तिनके, पत्ते और तालाब (पानी) कहाँ (उपलब्ध) नहीं होते? (अर्थात् सर्वत्र सुलभ हैं)।

समाधि- योग

१४५८. सुतं च विज्जातं समाधिसारम्।

सुनि, २९.६

विद्या और ज्ञान समाधि का सार है।

१४५९. योगा वे जायती भूरि। (पा.)

योगाद् वै जायते भूरि। (सं.)

धप, २८२

योग से अगाध ज्ञान उत्पन्न होता है।

१४६०. नात्थि ज्ञानं अपञ्जस्स, पञ्जा नत्थि अज्झायतो। (पा.)

नास्ति ध्यानमप्रज्ञस्य प्रज्ञा नास्ति अध्यायतः। (सं.)

धप, ३७२

प्रज्ञाविहीन का ध्यान नहीं होता। ध्यान न करने वाले की प्रज्ञा नहीं होती।

१४६१. योगो मानं न वै वयः।

बु, २०.५५

योग ही मान (प्रमाण या आदर योग्य) होता है, अवस्था नहीं।

१४६२. येषां समाधिना चित्तं निरुद्धं भावसंस्कृतम्।

मनःसमाधिसिद्धानां तेषां चेतसि नाधयः॥

बु, २६.६७

जिनका चित्त समाधि से निरुद्ध एवं भाव से संशुद्ध हो गया है ऐसे मनः (मानसिक) समाधि से सिद्ध पुरुषों को मानसिक दुःख नहीं होता है।

१४६३. यथा दृढेन बन्धेन प्रवाहः सन्निरुध्यते।

तथा समाधिना चित्तं शुध्यते च निरुध्यते॥

बु, २६.६८

जिस तरह दृढ़ (पक्के) बाँध से प्रवाह को रोका जाता है उसी तरह समाधि के द्वारा चित्त को शोधा तथा रोक जाता है।

१४६४. धनिकानां यथा त्राणं धनधर्मजनालयैः।

यतीनां तु तथा त्राणं केवलेन समाधिना॥

बु, २६.६९

जिस प्रकार धनिकों की रक्षा, धन, धर्म, जन और घर से होती है उसी प्रकार यतियों की रक्षा केवल समाधि से होती है।

१४६५. आस्थाय योगं परिगम्य तत्त्वं न त्रासमागच्छति मृत्युकाले।

सौ., ५.३२

योग तत्त्व के महत्त्व को जानकर मनुष्य, मृत्यु के समय, त्रास को नहीं प्राप्त करता है।

१४६६. ज्ञानस्योपनिषच्चैव समाधिरुपधार्यतां।
समाधेरप्युपनिषत्सुखं शारीरमानसम्॥

सौ., १३.२३

ज्ञान का आधार समाधि और समाधि का आधार शारीरिक और मानसिक सुख है।

१४६७. क्लेशास्तु विष्कम्भयते समाधिः।

सौ., १६.३५

समाधि क्लेशों को रोकती है।

१४६८. स्थिते समाधौ हि न धर्षयन्ति दोषाः।

सौ., १६.३५

समाधि में स्थित व्यक्ति पर दोष आक्रमण नहीं करते हैं।

१४६९. योगोऽप्यकाले ह्यनुपायतश्च भवत्यनर्थाय न तद्गुणाय।

सौ., १६.४९

असमय में और अनुचित उपाय करने से योग भी अनर्थकारी होता है, गुणकारी नहीं।

सहनशीलता

१४७०. परस्स वे धम्ममनानुजानं, बालो मगो होति निहीनपज्जो।

सुनि., ४.१२.३

जो दूसरे के धर्म को स्थान नहीं देता वह मूर्ख, पशु और प्रज्ञा-विहीन होता है।

१४७१. आतंकफस्सेन खुदाय फुट्ठो, सीतं अच्चुण्हं अधिवासयेय्य।

सुनि., ४.१६.१२

रोग-पीड़ा, भूख-वेदना, शील तथा अधिक गर्मी को सहे।

१४७२. अत्ता हि किर दुद्दमो। (पा)

आत्मा हि किल दुर्दमः। (स)

धप, १५९.

अपना दमन करना निश्चय ही कठिन है।

१४७३. खन्ती परमं तपो। (पा)
क्षन्तिः परमं तपः। (सं.)

धप, १८४

क्षमा परम तप है।

१४७४. दन्तो सेदुओ मनुस्सेसु यो तिवाक्यं तितिक्षति। (पा)
दान्तः श्रेष्ठो मनुष्येषु योऽतिवाक्यं तितिक्षते। (सं)

धप, ३२१

मनुष्यों में जिसने अपने को दमन कर लिया है जो कटु वाक्य को सहन करता है वही श्रेष्ठ है।

१४७५. न च क्षान्तिसमं तपः।

बोधिव, ६.२

सहनशीलता के समान कोई तप नहीं है।

१४७६. एकावमानाभिहता हि सत्सु पूर्वोपकारा न समीभवन्ति।

जामा, २३.१२

एक ही अपमान से आहत होने से सज्जनों के मन से पूर्वकृत उपकार नष्ट नहीं होते हैं।

१४७७. जन्मैव (तेनात्र) न मर्षणीयं तन्नास्ति चेत्किं च कुतश्च दुःखम्।

जामा, २८.६६

इस लोक में (कुछ असहनीय है तो) जन्म लेना ही असह्य है। यदि वह (जन्म) ही न हो तो दुःख क्या और कहाँ से होगा?

१४७८. नासत्कारमात्रेण पूर्वकृतं विस्मर्तव्यम्।

जामा, पृ. ३१७

केवल अपमान के कारण ही, पहले किए गए उपकार को नहीं भूलना चाहिये।

१४७९. सात्मीभूतक्षमाणां प्रतिसंख्यानमहतां नाविषह्यं नाम किञ्चिदस्ति।

जामा, पृ. ३६९

जो क्षमाशील व शान्त है उनके लिए कुछ भी असह्य नहीं है।

सुभाषित

१४८०. विज्जातसारानि सुभासितानि।

सुनि, २.९.६

सुभाषित ज्ञान के सार हैं।

१४८१. सुभाषितेषु सर्वेषु साधुकारमुदीरयेत्।

बोधि, ५.७५

सभी सुभाषितों की प्रशंसा करनी चाहिये।

१४८२. न सुभाषितरत्नानामर्घः कश्चन विद्यते।

जामा, ७.२७

सुभाषितरूपी रत्नों का कोई मोल नहीं होता (अर्थात् वे अमूल्य होते हैं)।

१४८३. श्रुत्वैव यन्नाम मनः प्रसादं श्रेयोऽनुरागः स्थिरतां च याति।

प्रज्ञाविवृद्ध्या वितमस्कतां च क्रय्यं ननु स्यादपि तत्त्वमांसैः॥

जामा, ३१.३१

जिस (सुभाषित) को सुनते ही मन प्रसन्न होता है, कल्याण-प्राप्ति की इच्छा स्थिर होती है, ज्ञान विकसित होकर निर्मल होता है, उसे अपने शरीर का मांस देकर भी खरीदना चाहिये।

१४८४. दीपः श्रुतं मोहतमः प्रमाथी चौराद्यहार्यं परमं धनं च।

संमोहशत्रुव्यथनाय शस्त्रं नयोपदेष्टा परमं च मन्यी॥

जामा, ३१.३२

कानों से सुना गया सुभाषित दीपक (के समान प्रकाशवान्) है जो अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करता है, वह उत्तम धन है जिसे चोर आदि चुरा नहीं सकते, वह मोहरूपी शत्रु को नष्ट कर देने वाला शस्त्र है और नीति का उपदेश देने वाला मन्त्री है।

१४८५. आपद्गतस्याप्यविकारि मित्रमपीडनी शोकरुजश्चिकित्सा।

बलं महददोषबलावमर्दि परं निधानं यशसः श्रियश्च॥

जामा, ३१.३३

वह (सुभाषित) विपत्ति में पड़े हुए मनुष्य का भी स्थिर मित्र है, शोक-रूपी रोग की पीड़ा-रहित चिकित्सा है, (काम, क्रोध आदि) दोषों की सेना को पराजित करने वाली महाशक्ति है तथा यश और धन की उत्तम निधि है।

१४८६. सत्सङ्गमे प्राभृतशीभरस्य सभासु विद्वज्जनरज्जनस्य।

परप्रवादद्युतिभास्करस्य स्पर्धावतां कीर्तिमदापहस्य॥

जामा, ३१.३४

सत्संग के प्रसंग में सुभाषित श्रेष्ठ उपहार है। वह सभाओं में विद्वानों को आनन्द देता है, विवादों में प्रदीप्त सूर्य है तथा ईर्ष्यालु मनुष्य के यश और गर्व को चूर-चूर करने वाला है।

१४८७. प्रसन्ननेत्राननवर्णरागैरसंस्कृतैरप्यतिहर्षलब्धैः।

संराधनव्यग्रकराग्रदेशैर्विख्याप्यमानातिशयक्रमस्य ॥

जामा, ३१.३५

(सुभाषित सुनकर) असंस्कृत साधारण मनुष्य भी अत्यधिक प्रसन्नता प्राप्त करते हैं, उनकी आँखें और मुख (सुभाषित सुनकर) चमक उठते हैं, प्रशंसा में हाथों के अग्रभाग को सञ्चालित करते हुए वे सुभाषित की श्रेष्ठता को सूचित करते हैं।

१४८८. विस्पष्टहेत्वर्थनिदर्शनस्य विचित्रशास्त्रापगमपेशलस्य।

माधुर्यसंस्कारमनोहरत्वादक्लिष्टमाल्यप्रकरोपमस्य ॥

जामा, ३१.३६

सुभाषित कार्य—कारण (के परस्पर सम्बन्ध) के स्पष्ट उदाहरणों से युक्त, विविध शास्त्रों के उद्धरणों से रमणीय तथा माधुर्य, संस्कार और मनोहरता के कारण नई गूँथी पुष्प—मालाओं के समान होता है।

१४८९. विनीतदीप्तप्रतिभोज्ज्वलस्य प्रसह्य कीर्तिप्रतिबोधनस्य।

वाक्सौष्ठवस्यापि विशेषहेतुर्योगात्प्रसन्नार्थगतिः श्रुतश्रीः ॥

जामा, ३१.३७

वह (सुभाषित) विनम्र दीप की चमक के समान उज्ज्वल होता है और यश को प्रभावशाली ढंग से जगाता है। स्पष्ट अर्थ—प्रवाह से परिपूर्ण सुन्दर शास्त्र (= वचन) सुभाषित में गौरव लाता है।

१४९०. श्रुत्वा च वैरोधिकदोषमुक्तं त्रिवर्गमार्गं समुपाश्रयन्ते।

श्रुतानुसारप्रतिपत्तिसारास्तरन्त्यकृच्छ्रेण च जन्मदुर्गम् ॥

जामा, ३१.३८

(सुभाषित सुनकर) लोग त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) के साधन निर्दोष मार्ग का आश्रय लेते हैं और सुने हुए के अनुरूप आचरण करने वाले लोग अनायास ही भवसागर पार कर जाते हैं।

स्नेह

१४९१. संसर्गजातस्स भवन्ति स्नेहा।

सुनि, १.३.२

संसर्ग में रहने वाले में स्नेह उत्पन्न होता है।

१४९२. पेमतो जायती सोको, पेमदो जायती भयं ॥ (पा.)

प्रेमतो जायते शोकः प्रेमतो जायते भयम्। (सं.)

धप, २१३

प्रेम से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय उत्पन्न होता है।

१४९३. स्नेहेन कश्चिन्न समोऽस्ति पाशः।

सौ., ५.२८

स्नेह के समान कोई पाश नहीं है।

१४९४. लोके प्रकृतिभिन्नेऽस्मिन् कश्चित् कस्यचित्प्रियः।

सौ., १५.३५

इस संसार में सब मनुष्यों के स्वभाव अलग-अलग हैं। अतः वस्तुतः कोई किसी का (नित्य) प्रिय नहीं है।

१४९५. बिभर्ति हि सुतं माता धारयिष्यति मामिति।

मातरं भजते पुत्रो गर्भेणाधत्त मामिति॥

सौ., १५.३६

‘भेरी देखभाल करेगा’— ऐसा सोचकर माता सन्तान को पालती है और ‘मुझे गर्भ में धारण किया था’— ऐसा सोचकर सन्तान माता की सेवा करती है।

१४९६. अनुकूलं प्रवर्तन्ते ज्ञातिषु ज्ञातयो यदा।

तदा स्नेहं प्रकुर्वन्ति रिपुत्वं तु विपर्ययात्॥

सौ., १५.३७

बन्धु-बान्धवों के प्रति अनुकूल व्यवहार करने पर वे स्नेह करते हैं किन्तु प्रतिकूल व्यवहार करने पर शत्रुता दिखाते हैं।

१४९७. स्नेहं कार्यान्तराल्लोकश्छिनत्ति च करोति च।

सौ., १५.३८

संसार में लोग प्रयोजनवश स्नेह-सम्बन्ध जोड़ते और तोड़ते हैं।

१४९८. स्नेहावबद्धानि हि मानसानि प्राणात्ययं स्वं न विचिन्तयन्ति।

जामा, २२.२५, पृ. २७७

प्रेम के बन्धन में बंधे हुए मन अपने प्राणों के विनाश की चिन्ता नहीं करते हैं।

१४९९. अस्निग्धभावस्तु न पर्युपास्यः।

जामा, २३.१३, पृ. २९८

जो व्यक्ति स्नेह से शून्य हो गया है उसकी उपासना नहीं की जाती है।

स्मृति

१५००. स्मृतिः शरीरिणां मित्रं सततं स्मृतिमान् भव।

तस्यां सत्यां हि दोषाणां प्रादुर्भावो न चेतसि।

बु., २६.६५

स्मृति देहधारी का मित्र है, अतः तुम सदा स्मृतिवान् बनो। स्मृति रहते चित्त में दोषों का प्रादुर्भाव नहीं होता।

१५०१. यतीनां यतचित्तानां स्मृतिस्तु कवचं दृढम्।
मत्ताः शूरा इवाजौ ते युध्यन्ते विषयारिभिः।

बु., २६.६६

स्मृति जितेन्द्रिय यतियों का दृढ़ कवच है। उसको पहिनकर वे विषयरूपी शत्रुओं से उसी तरह लड़ते हैं जैसे मत् वीर युद्ध में।

१५०२. अनाथं तन्मनो ज्ञेयं यत्स्मृतिर्नाभिरक्षति।

सौ., १४.३९

स्मृति जिस चित्त की रक्षा नहीं करती हो उस चित्त को अनाथ समझना चाहिये।

१५०३. अनर्थेषु प्रसक्ताश्च स्वार्थेभ्यश्च पराङ्मुखा।
यद्भये सति नोद्विग्नाः स्मृतिनाशोऽत्र कारणम्॥

सौ., १४.४०

जो व्यक्ति अनर्थों में आसक्त होते हैं और स्वार्थों से पराङ्मुख होते हैं तथा भय से उद्विग्न नहीं होते हैं, उसका कारण स्मृति-नाश है।

१५०४. प्रनष्टममृतं तस्य यस्य विप्रसृता स्मृतिः।
हस्तस्थममृतं तस्य यस्य कायगता स्मृतिः॥

सौ., १४.४२

जिसकी स्मृति नष्ट हो जाती है उसका अमृत भी नष्ट हो जाता है और जिस शरीर में स्मृति है उसके हाथ में अमृत है।

१५०५. आर्यो न्यायः कुतस्तस्य स्मृतिर्यस्य न विद्यते।
यस्यार्यो नास्ति च न्यायः प्रनष्टस्तस्य सत्पथः॥

सौ., १४.४३

जिसमें स्मृति नहीं होती उसे सच्चा न्याय नहीं मिलता है और जिसको सच्चा न्याय नहीं मिलता है उसका सन्मार्ग भी नष्ट हो जाता है।

स्वतापरता

१५०६. अत्ता हि अत्तनो नत्थि, कुतो पुत्ता कुतो धनं॥ (पा.)
आत्मा हि आत्मनो नास्ति कुतः पुत्राः कुतो धनम्। (सं.)

धप, ६२

जब वह स्वयं अपना ही नहीं है तो उसके कहाँ पुत्र और कहाँ धन।

१५०७. अत्ता हि अत्तनो नाथो। (पा.)
आत्मा हि आत्मनो नाथः। (सं.)

धप, १६०

(मनुष्य) अपना स्वामी आप है।

१५०८. अत्ता हि अत्तनो नाथो, अत्ता हि अत्तनो मति। (पा.)
आत्मा हि आत्मनो नाथः आत्मा हि आत्मनो गतिः। (सं.)

धप, ३८०

(मनुष्य) अपना स्वामी आप है और स्वयं ही अपनी शरण है।

१५०९. सूर्यस्य लोके न सहायकृत्यम्।

लवि, २१.१०२१

इस जगत् में सूर्य की सहायता करने वाला कोई नहीं है।

१५१०. कुलार्थं धार्यते पुत्रः पोषार्थं सेव्यते पिता।
आशयाच्छिलष्यति जगन्नास्ति निष्कारणा स्वता॥

बु, ६.१०

वंश की रक्षा करने के लिए पुत्र का पालन होता है। पोषण के लिए पिता की सेवा की जाती है। आशा से ही जगत् एक दूसरे से मेल-जोल रखता है। बिना हेतु के निजपना (अपनत्व) नहीं है।

१५११. जीव बहुविधा लोके सन्ति तत्तत्स्वभावतः।
कामाद्या अत्यकामाश्च विमुखाः सम्मुखा अपि॥

बु, १४.१०४

संसार में तत्तत्स्वभाव के बहुत प्रकार के जीव हैं—कुछ को काम-वासना बहुत है, कुछ को कम है, कुछ इसके सम्मुख हैं तथा कुछ इससे विमुख हैं।

१५१२. स्वार्थं प्रायः समीहन्ते जना ह्यत्र परत्र च।
कुर्याज्जगद्धितं यस्तु दुर्लभस्तादृशो जनः।

बु, १४.१०६

लोग इस लोक में तथा परलोक में प्रायः अपना स्वार्थ चाहते हैं। जो जगत् के हित का कार्य करे—ऐसा मनुष्य दुर्लभ है।

१५१३. पराधीने परं दुःखं स्वाधीने च महत्सुखम्।
मनुवंशोद्भवा नार्यः सर्वा एव पराश्रिताः॥

बु, २२.४७

पराधीनता में बहुत दुःख है एवं स्वाधीनता में बड़ा सुख है। मनुष्य मात्र में उत्पन्न स्त्रियाँ—सब की सब पराधीन ही हैं।

१५१४. व्यवस्था नास्ति संसारे स्वजनस्य जनस्य च।

सौ., १५.४१

इस संसार में अपने और पराए का कोई (निश्चित) नियम नहीं है।

१५१५. गुणदोषाभिमर्षात्तु बहुमानावमानयोः।

ब्रजत्यास्पदतां लोकः स्वजनस्य जनस्य वा॥

जामा, १८.२, पृ. २२३

‘गुण और दोषों के विवेक के अनुसार ही कोई व्यक्ति इस संसार में अपने-पराये के रूप में सम्मान और तिरस्कार पाता है।

हिंसा

१५१६. परं हि हन्तुं विवशं फलेप्सया न युक्तरूपं करुणात्मनः सतः।

क्रतोः फलं यद्यपि शाश्वतं भवेत्तथापि कृत्वा किमु यत्क्षयात्मकम्॥

बु, ११.६५

दयावान् सज्जन के लिए फल की इच्छा से, अन्य विवश जीव को मारना उचित नहीं। यदि यज्ञ का फल शाश्वत भी हो, तो भी क्या उस फल के लिए ऐसा करना चाहिये?

१५१७. भवेच्च धर्मो यदि नापरो विधिर्व्रतेन शीलेन मनःशमेन वा।

तथापि नैवाहीति सेवितुं क्रतुं विशस्य यस्मिन् परमुच्यते फलम्॥

बु, ११.६६

यदि व्रत से, शील से, मानसिक शान्ति से या अन्य उपाय से धर्म-प्राप्ति न की हो तो भी ऐसे यज्ञ का सेवन नहीं करना चाहिये जिसमें दूसरों को मारकर फल प्राप्त होता है (ऐसा कहते हैं)।

१५१८. इहापि तावत्पुरुषस्य तिष्ठतः प्रवर्तते यत्परहिंसया सुखम्।

तदप्यनिष्टं सधृणस्य धीमतो भवान्तरे किं बत यन्न दृश्यते॥

बु, ११.६७

इस लोक में भी रहने वाले पुरुष को पराई हिंसा से जो सुख होता है, वह भी दयालु बुद्धिमान् के लिए इष्ट नहीं है तब जन्मान्तर में जो दिखलाई नहीं देता, उसकी तो बात ही क्या?

१५१९. मा हिंस्याः सर्वभूतानि निर्मनुं विशेषतः।

बु, २१.६०

सभी प्राणियों की हिंसा मत करो, विशेषकर निरपराध की तो और भी नहीं।

१५२०. य एव लोकेषु शरण्यमसम्मतस्त एव हिंसामपि धर्मतो गताः।
विवर्तते कष्टमपायसङ्कटे जनस्तदादेशितकापथानुगः॥

जामा, १०.९

जो लोग संसार में दूसरों को शरण देने वाले के रूप में प्रतिष्ठित हैं वे ही धर्म के नाम पर हिंसा का मार्ग अपनाते हैं। ऐसे लोगों के आदेश का पालन करके जो लोग कुमार्ग पर चलते हैं वे निश्चय ही अनिष्टकारक संकट में पड़कर कष्ट उठाते हैं।

१५२१. को हि नामाभिसम्बन्धो धर्मस्य पशुहिंसया।
सुरलोकाधिवासस्य दैवतप्रीणनस्य वा।

जामा, १०.१०

धर्म का, स्वर्ग-प्राप्ति का या देवताओं की प्रसन्नता का पशु-हिंसा से भला क्या सम्बन्ध हो सकता है?

१५२२. सम्पश्यन् हेतुतः सिद्धिं स्वतन्त्रः परलोकवित्।
साधुप्रतिज्ञः सघृणः प्राणिनं को हनिष्यति॥

जामा, २३.५६

हेतु से सभी (भाव पदार्थों, कार्यों) की सिद्धि (निर्माण) मानने वाला, स्वतन्त्र विचारधारावाला, परलोक को जानने वाला और उत्तम प्रतिज्ञा (सिद्धान्त) वाला कौन दयालु मनुष्य प्राणी की हत्या करेगा?

१५२३. देहस्यैकस्य नामार्थे रोगभूतस्य नाशिनः।
इदं सत्त्वेषु नैर्घृण्यं धिगहो बत मूढताम्॥

जामा, ३०.१३

बीमारियों से भरे और नाशवान् एक शरीर के लिए प्राणियों के प्रति इतनी निर्दयता? अहो, (इस प्रकार के) अज्ञान को धिक्कार है।

१५२४. धर्मे स्थिता न खलु तेऽपि नमन्ति येषां
भीतद्रुतेष्वपि मृगेषु शरासनानि।

जामा, ३१.५१

भय से भागते हुए मृगों की तरफ जो धनुष झुकाते हैं वे भी निःसन्देह धार्मिक नहीं हैं।







अन्य प्रकाशन

१. बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन
लेखक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ़, १९८६
मूल्य : २५०.००
२. सिद्धित्रयी (उत्पलाचार्य विरचिता)
सम्पादन एवं अनुवाद : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८८
मूल्य : १२५.००
३. जातकमाला (आर्यशूरप्रणीता)
अनुवाद एवं अध्ययन : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९६२
मूल्य : २००.००
४. पीयूषम् (आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मारिका)
सम्पादन : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी, १९६५
मूल्य : १००.००
५. गीतामृतम्
मूल लेखक : पं० गिरिधरलाल शास्त्री
अनुवाद एवं भूमिका : डॉ० यशवन्तकुमार जोशी
सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
मूल्य : २५.००
६. उद्गार (डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी के
प्रति सहृदयों के)
सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
मूल्य : २५.००
७. भावगीत
कवि : सुभाष चन्द्र जोशी
सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
मूल्य : १००.००

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी-स्मृति-ग्रन्थमाला के प्रकाशन प्रशान्त प्रकाशन

128, बालाजी कॉलोनी, लंका, वाराणसी-221005 (उ०प्र०)

फोन : 0542 - 2366066

प्रथम पुष्प	कालिदास के काव्य में सादृश्येतर अलंकार लेखक : डॉ० विष्णुराम नागर	
	सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	150.00
द्वितीय पुष्प	तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड लेखिका : डॉ० बीना अग्रवाल	
	सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	300.00
तृतीय पुष्प	सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि लेखक : डॉ० विजयशंकर द्विवेदी	
	सम्पादक : डॉ० कृष्णकान्त शर्मा	175.00
चतुर्थ पुष्प	उन्मीलनम् (म०म०पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते अभिनन्दन ग्रन्थ)	
	सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	500.00
पञ्चम पुष्प	बौद्धाचार्य वसुबन्धु लेखक : डॉ० मुनिराम तिवारी	
	सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	200.00
षष्ठ पुष्प	मेदपाद-मण्डन पं० गिरिधरलाल शास्त्री लेखक : डॉ० यशवन्त कुमार जोशी	
	सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	400.00
सप्तम पुष्प	दर्शन-कणिका डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	150.00
अष्टम पुष्प	बौद्ध सुभाषित सङ्कलन एवं अनुवाद : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	
	आर्य भाषा संस्थान	250.00

आर्य भाषा संस्थान

B 2/143- ए भदैनौ, वाराणसी - 221 001 के प्रमुख प्रकाशन

- सोये पलाश दहकेंगे (गीत) - नचिकेता 100.00
- शिनाख्त - सं. नचिकेता 150.00
- सभाजित पाण्डेय अश्रु : एक मूल्यांकन-डॉ. अवधेश नारायण मिश्र 100.00
- हिन्दी नवगीत : सार्थक कृतियाँ-डॉ. अवधेश नारायण मिश्र 100.00
- हिन्दी नवगीत का संक्षिप्त इतिहास-डॉ. अवधेश नारायण मिश्र 100.00
- जनवादी गीत : स्वरूप और समस्याएँ-डॉ. अवधेश नारायण मिश्र 100.00
- युगपुरुष-डॉ. रामकुमार वर्मा-सं. डॉ. बालेन्दु शेखर एवं अन्य 250.00
- अविभाजित आकाश (काव्य)-ब्रह्माशंकर पाण्डेय 100.00
- रेत में बहता जल (कविता)-सं. चन्द्रबली सिंह, अशोक पाठक 100.00
- गीत रचना की नई जमीन-नचिकेता 100.00